ISSN NUMBER : 2455-9717

RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929

शिवना साहित्यिकी

वर्ष : 3, अंक : 12

जनवरी-मार्च 2019

मूल्य 50 रुपये

नींद / आलोक धन्वा

रात के आवारा
मेरी आत्मा के पास भी रुको
मुझे दो ऐसी नींद
जिस पर
एक तिनके का भी दबाव ना हो

ऐसी नींद
जैसे चाँद में पानी की घास

शिवना प्रकाशन - नई पुस्तकें

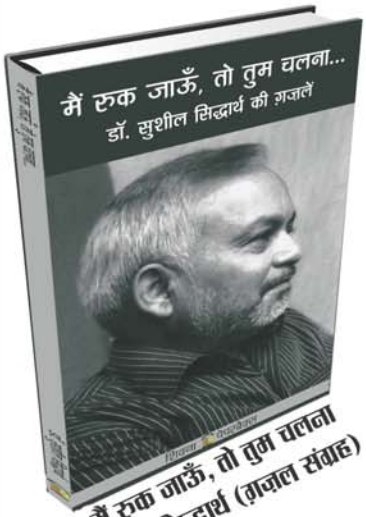

मैं रुक जाऊँ, तो तुम चलना
सुशील सिद्धार्थ (ग़ज़ल संग्रह)

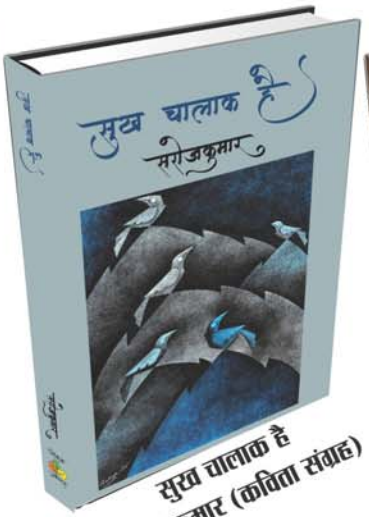

सुख चालाक है
सरोजकुमार (कविता संग्रह)

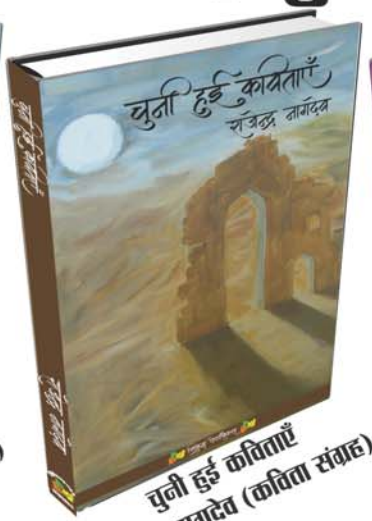

चुनी हुई कविताएँ
राजेन्द्र नागदेव (कविता संग्रह)

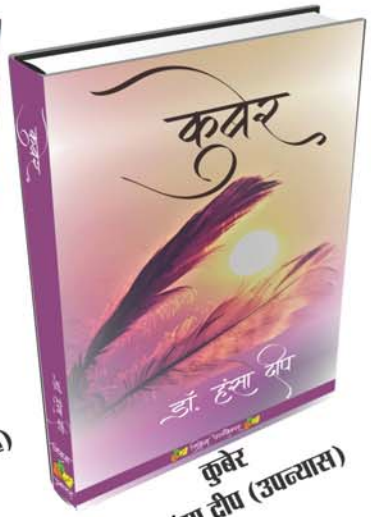

कुबेर
डॉ. हंसा दीप (उपन्यास)

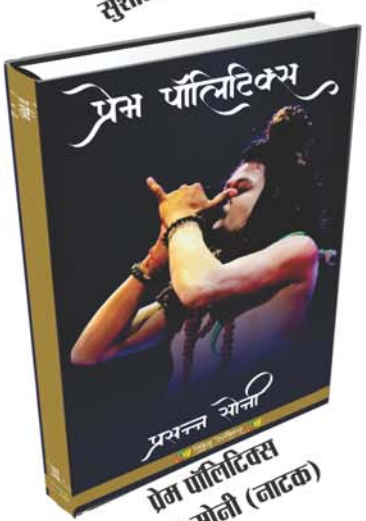

प्रेम पॉलिटिक्स
प्रसन्न सोनी (नाटक)

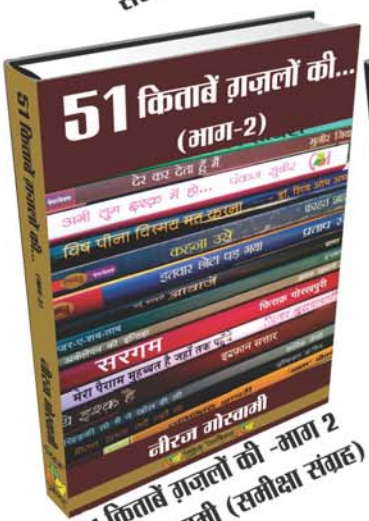

51 किताबें ग़ज़लों की -भाग 2
नीरज गोस्वामी (समीक्षा संग्रह)

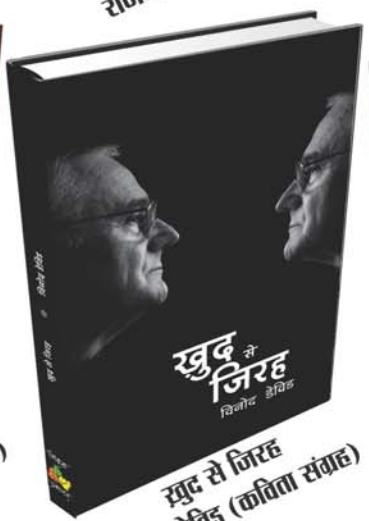

ख़ुद से जिरह
विनोद डेविड (कविता संग्रह)

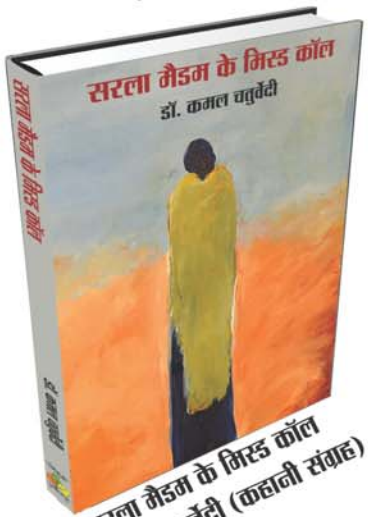

सरला मैडम के मिस्ड कॉल
डॉ. कमल चतुर्वेदी (कहानी संग्रह)

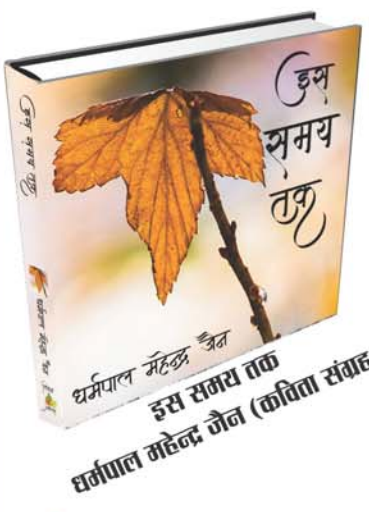

इस समय तक
धर्मपाल महेन्द्र जैन (कविता संग्रह)

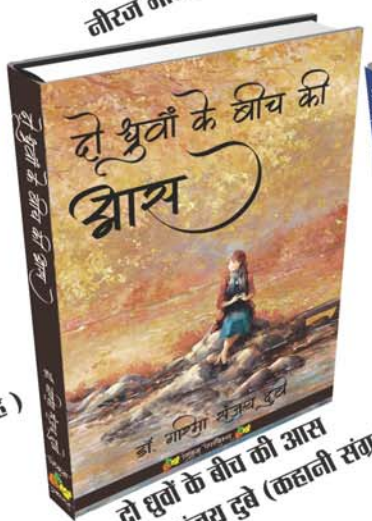

दो ध्रुवों के बीच की आस
डॉ. गरिमा संजय दुबे (कहानी संग्रह)

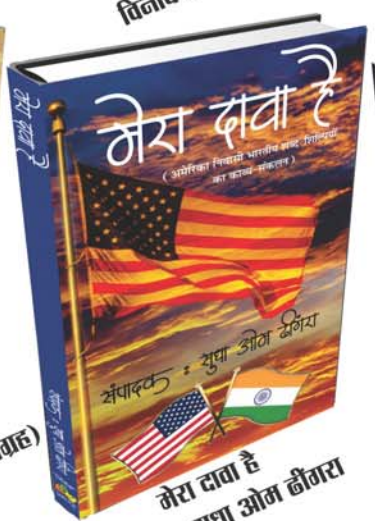

मेरा दावा है
संपादक : सुधा ओम ढींगरा

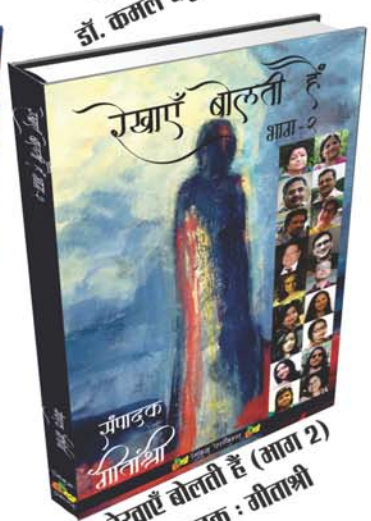

रेखाएँ बोलती हैं (भाग 2)
संपादक : गीतांजलि श्री

शिवना प्रकाशन
शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट
कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने
सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन
की पुस्तकें सभी प्रमुख
ऑनलाइन शॉपिंग
स्टोर्स पर

amazon http://www.amazon.in
flipkart.com http://www.flipkart.com
paytm https://www.paytm.com
ebay http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

संरक्षक एवं सलाहकार संपादक
सुधा ओम ढींगरा
●
प्रबंध संपादक
नीरज गोस्वामी
●
संपादक
पंकज सुबीर
●
कार्यकारी संपादक
शहरयार
●
सह संपादक
पारुल सिंह
●
छायाकार
राजेन्द्र शर्मा
●
डिज़ायनिंग
सनी गोस्वामी
●
संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय
पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6
सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001
दूरभाष : 07562405545, 07562695918
मोबाइल : 09806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivnasahityiki@gmail.com
ऑनलाइन 'शिवना प्रकाशन'
http://shivnaprakashan.blogspot.in
फेसबुक पर 'शिवना प्रकाशन'
https://facebook.com/shivna prakashan
●
एक प्रति : 50 रुपये,
(विदेशों हेतु ५ डॉलर $5)
सदस्यता शुल्क
200 रुपये (एक वर्ष), 400 रुपये (दो वर्ष)
1000 रुपये (पाँच वर्ष), 3000 रुपये (आजीवन)
बैंक खाते का विवरण :
Name: Shivna Sahityiki
Bank Name: Bank Of Baroda
Branch: Sehore (M.P.)
Account Number: 30010200000313
IFSC Code: BARB0SEHORE

शिवना साहित्यिकी
वर्ष : 3, अंक : 12
त्रैमासिक : जनवरी-मार्च 2019
RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929
ISSN : 2455-9717

आवरण कविता
आलोक धन्वा

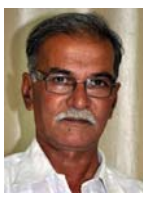

आवरण चित्र
राजेन्द्र शर्मा

इस अंक में

कुछ यूँ...
आवरण कविता / आलोक धन्वा
संपादकीय / शहरयार / 4
व्यंग्य चित्र / काजल कुमार / 5
पीढ़ियाँ आमने-सामने
चौपड़े की चुड़ैलें
महेश कटारे / पंकज सुबीर / 7
समीक्षा पत्र
एक शहर देवास, कवि नईम और मैं !
डॉ. विजय बहादुर सिंह / प्रकाश कान्त / 9
कथा समीक्षा
मालूशाही ! मेरा छलिया-बुरांश
पंकज सुबीर / प्रज्ञा / 10
मर... नासपीटी !
चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी
सुधा ओम ढींगरा / पंकज सुबीर / 11
नई पुस्तक
मैं रुक जाऊँ, तो तुम चलना...
डॉ. सुशील सिद्धार्थ / 14
फ़िल्म समीक्षा
बधाई हो
वीरेन्द्र जैन
निर्देशक: अमित रविन्द्रनाथ शर्मा / 15
पुस्तक चर्चा
आतंकवाद पर बातचीत / तेजस पूनिया / डॉ. पुनीत बिसारिया / 21
अश्वत्थामा यातना का अमरत्व / दीपक गिरकर / अनघा जोगलेकर / 25
नई मधुशाला / अशोक अंजुम / सुनील बाजपेयी 'सरल' / 33
कितना कारावास / राजेंद्र मोहन भटनागर / मुरलीधर वैष्णव / 41
पुस्तक समीक्षा
राग मारवा / अंकित नरवाल / ममता सिंह / 17
ख़ुद से जिरह / जीवन सिंह ठाकुर / विनोद डेविड / 20
भीतर दबा सच / डॉ. दामोदर खड़से / डॉ. रमाकांत शर्मा / 22
संकल्प और सपने / विनिता राहुरिकर / सदाशिव कौतुक / 24
तब तुम कहाँ थे ईश्वर / कुमार विजय गुप्त / आरती तिवारी / 26
हरिप्रिया / ऋतु भनोट / कृष्णा अग्निहोत्री / 28
आज़ादी का जश्न / प्रभाशंकर उपाध्याय / राजशेखर चौबे / 30
चारों ओर कुहासा है / डॉ. अजय अनुपम / रघुवीर शर्मा / 32
भास्कर राव इंजीनियर / घनश्याम मैथिल 'अमृत' / अरुण अर्णव खरे / 34
सच कुछ और था / डॉ. सीमा शर्मा / सुधा ओम ढींगरा / 35
नाटक समीक्षा
राजा की रसोई
प्रज्ञा / रमेश उपाध्याय / 38

संपादन, प्रकाशन एवं संचालन पूर्णत: अवैतनिक, अव्यवसायिक। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं। संपादक तथा प्रकाशक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक पर होगा। पत्रिका जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर माह में प्रकाशित होगी। समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र सीहोर (मध्यप्रदेश) रहेगा।

संपादकीय

प्रशंसा के इस गुलाबी-गुलाबी वातावरण में

शहरयार
shaharyarcj@gmail.com
+91-9806162184

'शिवना साहित्यिकी' इस अंक के साथ ही तीन वर्षों की यात्रा पूर्ण कर रही है। यह बारहवाँ अंक है। तीन वर्ष पूर्व जब दो पत्रिकाएँ एक साथ प्रारंभ हो रही थीं, तब सभी के मन में यह प्रश्न था कि दो पत्रिकाएँ क्यों ? संपादक मंडल के पास इस प्रश्न का उत्तर तो था कि एक पत्रिका विधाएँ प्रकाशित करेगी और दूसरी पत्रिका विधाओं की समीक्षाएँ प्रकाशित करेगी। उत्तर होने के बाद भी यह आशंका मन में थी कि समीक्षाओं तथा आलोचनाओं पर केंद्रित पुस्तक निकालना क्या लम्बे समय तक संभव हो पाएगा? शुरू के कुछेक अंकों के बाद संपादक मंडल ने दोनों पत्रिकाओं को अपने-अपने अलग-अलग रास्ते पर डालने का कार्य प्रारंभ कर दिया। जैसे-जैसे 'शिवना साहित्यिकी' समीक्षा / आलोचना पर केंद्रित होने लगी, वैसे-वैसे पत्रिका के लिए सामग्री को लेकर संपादक मंडल की चिंता भी स्पष्ट होने लगी। लेकिन पाठकों ने जिस प्रकार पत्रिका के इस गंभीर रूप का स्वागत किया उससे संपादक मंडल का हौसला बढ़ा और तीन साल पूर्ण होने पर यह पत्रिका पूरी तरह से समीक्षा / आलोचना की पत्रिका हो गई है। साहित्य की सारी विधाओं के साथ-साथ नाटक, फ़िल्म आदि की समीक्षा भी इसमें आकर जुड़ गईं। धीरे-धीरे वह स्वरूप आने लगा जिसके बारे में संपादक मंडल ने पत्रिका को प्रारंभ करते समय सोचा था। यह बात ज़रूर है कि अभी भी प्राप्त हो रही समीक्षाओं में स्तरीय समीक्षाओं को तलाशने में अच्छी-ख़ासी मेहनत करनी पड़ती है। इन दिनों समीक्षा लिखने का मतलब किसी अपने को प्रसन्न करना हो गया है। चूँकि कोई भी रचनाकार अपनी किसी रचना के बारे में इन दिनों नकारात्मक कुछ भी नहीं सुनना चाहता है, इसलिए समीक्षक भी (जो अमूमन कोई लेखक मित्र ही होता है) वही लिखने की कोशिश करता है, जिससे संबंध सुरक्षित रहें। और इस संबंध निभाने की प्रक्रिया के कारण सबसे ज़्यादा नुकसान हिन्दी साहित्य का हो रहा है। समीक्षाएँ / आलोचनाएँ यदि राग-द्वेष के चलते लिखी जाने लगेगीं, तो उससे नुकसान तो साहित्य का ही होगा न ? आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व समीक्षाएँ / आलोचनाएँ अनुराग के कारण कम और द्वेष के कारण ज़्यादा लिखी जाती थीं। उनसे भी नुकसान हिन्दी साहित्य को ही होता था और इनसे भी हो रहा है। उस समय भी पाठक के सामने एक प्रकार के भ्रम की स्थिति निर्मित होती थी और आज भी प्रशंसा के इस गुलाबी-गुलाबी वातावरण में पाठक के सामने भ्रम की स्थिति बन रही है। पाठक समझ नहीं पा रहा है कि वह किसी पुस्तक विशेष को ख़रीदे अथवा न ख़रीदे ? यह जो भ्रम है यही हिन्दी साहित्य के लिए इस समय सबसे नुकसानदायक है, और शायद इसी के चलते किसी भी समीक्षक / आलोचक की विश्वसनीयता बन ही नहीं पा रही है।

कुछ समीक्षक और आलोचक ऐसे भी हैं, जो इस प्रकार की प्रशंसात्मक आलोचनाएँ लिख तो नहीं रहे हैं, मगर उनके यहाँ लेखक पूर्व से ही तय किए हुए हैं। वे उन्हीं-उन्हीं पर लिख रहे हैं जिसको लेकर मालवी बोली की एक कहावत याद आती है -'अंधा चूहा घट्टी के आस-पास'। वे अपनी पूर्व निर्धारित सूचि के बाहर जाने के बारे में सोच भी नहीं रहे हैं। तो यह दुविधा संपादक मंडल के सामने आनी ही है। एक वे समीक्षक हैं, जो केवल प्रशंसा लिख रहे हैं, दूसरे वे हैं जो केवल कुछ तय नामों पर लिख रहे हैं। ऐसा लगता है कि समीक्षा को साहित्य के सरोकार के लिए नहीं लिखा जा रहा है। समीक्षा, समीक्षा के लिए नहीं लिखी जा रही है, रिश्ते निभाने के लिए लिखी जा रही है। एक-दूसरे से रिश्ता निभाना है, मगर साहित्य से रिश्ता कोई निभाना नहीं चाहता। समीक्षा के ऐसे कठिन समय में हम तीन साल पूरे कर रहे हैं, आप सबके सहयोग और साथ के कारण। मगर अभी भी इच्छा यही है कि पत्रिका में ऐसी समीक्षाएँ प्रकाशित की जाएँ, जिनमें किसी कृति के सभी पक्षों पर समान रूप से चर्चा की गई हो। जिनको पढ़कर किसी भी पाठक के सामने पुस्तक का पूरा रचाव-बनाव सामने आ जाए और वो यह तय कर सके कि उसको यह पुस्तक ख़रीदनी है कि नहीं ख़रीदनी है। इन दिनों एक और मुश्किल सामने आ रही है, वो यह कि कोई भी प्रकाशक समीक्षित पुस्तक की समीक्षार्थ प्रति न भेज कर ईमेल द्वारा उसके कवर का चित्र और समीक्षा भेज देता है। ऐसे में हमारे लिए और मुश्किल हो जाता है उसको प्रकाशित करना। शायद प्रकाशक के मन में यह भी रहता हो कि संपादक मंडल को क्या लेना-देना है पुस्तक से ? उसे तो समीक्षा प्रकाशित करनी है। कई बार लेखक की ओर से समीक्षा आती है तो वहाँ समीक्षक का फ़ोटो, तथा अन्य जानकारी ही ग़ायब रहती है। शायद लेखक की सोच यह रहती है कि पुस्तक तो मेरी है समीक्षक ने किया ही क्या है, जो उसकी फ़ोटो प्रकाशित की जाए। 'शिवना साहित्यिकी' का जो फार्मेट है उसमें हम समीक्षक और लेखक दोनों की तस्वीर लगाते हैं। समीक्षा पसंद आ जाए तो समीक्षक की जानकारी, तस्वीर प्राप्त करने के लिए जो अलग से श्रम करना पड़ता है, वो तो है ही। वो तो भला हो इंटरनेट का जहाँ से यह सूचनाएँ मिल जाती हैं, अन्यथा तो लेखक को बार-बार फ़ोन करने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता है। ख़ैर... यह आपकी ही पत्रिका है, यदि आप इन सब छोटी-छोटी बातों का ध्यान रखेंगे, तो हम आपकी ही इस पत्रिका को और ज़्यादा बेहतर बना सकेंगे। **आपका ही**

शहरयार

व्यंग्य-चित्र

काजल कुमार

kajalkumar@comic.com

पीढ़ियाँ आमने-सामने
चौपड़े की चुड़ैलें

आलेख : महेश कटारे
लेखक : पंकज सुबीर
प्रकाशन : शिवना प्रकाशन, सीहोर, मप्र

इस दौर के चर्चित कहानीकार पंकज सुबीर की आरंभिक कहानियों ने ही सुधी पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचा था। उनकी वस्तु और शिल्प दोनों में अलग प्रभाव और कहन में ऐसा देशीपन और पहचान है कि वह पाठक को भाव व स्थिति की एक नई ज़मीन पर ले जाकर खड़ा कर देती है। जैसे वह अपने पात्रों से लगभग दूर खड़े होकर उनका हाल अहवाल बयान कर रहे हों। जिसमें सच्चाई और दृष्टि के बीच धूप का झीना-सा पर्दा खिंचा हो। ये कहानियाँ भारत के जन का निरीह काँइयाँपन भी उजागर करती हैं और विडंबना भी। लिप्सा और दारुणता का व्यंजनापूर्ण विमर्श उनकी कहानियों में घटनाएँ जैसे स्वयं ही चुन लेती हैं। चकित करना इन कहानियों का स्वभाव है जिसने अपनी लीक 'चौपड़े की चुड़ैलें' तक छोड़ी नहीं है। पश्चिमी मध्यप्रदेश की बोली / बोलियों के क्रियापदों, मुहावरों तथा सहज-कथन भंगिमा की लयात्मकता या रिद्म से निर्मित भाषिक सृजनात्मकता के साथ हम ऐसे समय में जा पहुँचते हैं, जो चुड़ैलों के साथ पींगें भर रहा है। लीला-पुरुषों से आक्रांत समय को तुलसी, कबीर की छाप के साथ देखना भी तो एक प्रकार से रचनात्मक ज़्यादती ही होगी। जीवन तो अपने साथ घटे सच को सँजोता, अपने आपको रगड़ता, माँजता अनुकूल बनने बनाने की कोशिश करता है।

संग्रह में पहली कहानी है - 'जनाब सलीम लँगड़े और श्रीमती शीला देवी की जवानी'। कहानी का शीर्षक ही व्यंजना भरा है क्योंकि दोनों के साथ विशेषण जुड़ा है। यदि एक सलीम लँगड़ा होता दूसरी मात्र शीला देवी होती, तो कहानी सामान्य ही रहती। उसे विशेष ये विशेषण बनाते हैं। यही उसे दैहिक संबंधों, नर-मादा की जैविक ज़रूरतों के दायरों में स्त्री-विमर्श के अलग कोण पर ले आता है। विमर्श न करें तो यह एक जीवन के बीच बुनी हुई एक शानदार कहानी है, विमर्श इसमें प्रेम की कबड्डी-कबड्डी का खेल शुरू करता है। खेल में ज़ाहिर है दो पाले बनेंगे और यहाँ इसकी गुंजाइश भी है कि जनाब लँगड़े नाम से सलीम हैं। गबरू जवान टाइप के शौकीन मिज़ाज हैं। शादीशुदा दो बच्चों के बाप हैं और जिस दिन तेज़ बरसात के साथ उनकी बाँहों में शीलादेवी का अतर तेज होकर महकता तब - ''जनाब सलीम लँगड़े को लगता था कि वह सवाब का काम कर रहे हैं.... प्यासे को पानी पिला रहे हैं।''

शीला देवी की उमर भी भादों की बरसाती नदी की तरह थी। सात-आठ महीने ससुराल में रहकर पुरुष की देह का स्वाद चख़ आई थीं- ''देह और अफीम का एक ही क़िस्सा होता है, जब तक न चख़ो, तब तक कोई दिक़्क़त नहीं, लेकिन चख़ ली तो लत लगेगी ही लगेगी।''- लत का ही असर था कि छोड़-छुट्टी के बाद शीला बरसात की रात में तवे सी तपती रहतीं। तो यहाँ प्रेम जैसे अनुभूतिपरक भाव का कोई स्थान न था- दोनों तरफ देह की आग थी। इसीलिए जनाब सलीम लँगड़े के मरहूम जनाब सलीम लँगड़े में बदल जाने के बाद भी 'चाँद उसी प्रकार अमृत बरसा रहा था'। हाँ यह बिल्कुल सही है कि कहानी में देह-राग आरंभ से अंत तक ऐसी धुन, ऐसे सधाव के साथ बजता है कि संवेदनाओं का विस्थापन और स्त्री-देह की वस्तु-सादृशता पाठक के भीतर कहीं 'तीर-ए-नीमकश' सी गड़कर रह जाती है। कहानी को फिर से पलटने पढ़ने को जी चाहता है। ख़ूबी यह भी है कि यहाँ पूरा लोक अपने समय के विस्तार के साथ दिखाई देता है। यह भी है कि कहानी में कोई वक्तव्य, सलाह, सुझाव नहीं।

इसके बाद 'अप्रैल की एक उदास रात' है। -''हवा में उदासी घुली हुई है। उदासी जो मौसमों की थपक के साथ पैदा होती है। बाहर बसंत और पतझड़ क्या है कुछ समझा नहीं जा सकता। जिसे समझा नहीं जा सकता, वह हमेशा उदास करता है।'' (पृ. 26)

वाक्यों के विन्यास में गुलज़ार के टैक्शचर (गढ़त) का अभिसर्ग है। आगे जाकर स्पष्ट होता है कि 'ये गुलज़ार के गीतों से निकली हुई ज़िंदगी थी'। और यह कहानी भी फ़िल्मी गानों के सहारे फ़िल्म की तरह चलती दिखाई देती है। पात्र हैं- शुचि (गायनोकोलोजिस्ट) डी.डी. सर अर्थात् डॉ. दीनदयाल भार्गव (शहर के सबसे बड़े गायनोकोलोजिस्ट) बसंत, जिसके कंधे के एक बालिश्त नीचे तिल था, जो उँगलियों से स्पष्ट अनुभव किया जा सकता था। ''इस अनुभव के बीच शुचि और बसंत ने एक रात में कई यात्राएँ कीं''। बाद में बसंत सात समंदर पार चला गया। शुचि के पति हैं अब डी.डी. सर और शुचि के पास हैं- 'बस कुछ शेष हो चुके पलों की स्मृतियाँ'। एक वाक्य और देखिए- ''मैंने बसंत को बीतते देखा, रीतते देखा। अपने आपको ठगा-सा महसूस करते हुए।''- यह ठगी हुई, स्वयं को रीतने देती हुई गायकोनोलोजिस्ट जो 'सीजेरियन भी ऐसे करती है जैसे कविता लिख रही हो, हाउ

पोएटिक इट इज़...।' नाटकीय स्थितियों को चुनती और बुनती कहानी एक उदास वक्तव्य को सामने रखती है-

''जब दो लोगों के सपने एक-दूसरे के ठीक विपरीत हों तो ज़ाहिर-सी बात है कि किसी एक को तो अधूरा छूटना ही पड़ेगा। यह जो अलगाव होता है न चिंकी, वह वास्तव में सपनों की टकराहट का ही परिणाम होता है। विपरीत दिशाएँ हमेशा टकराहट पैदा करती हैं। प्रेम और सपनों का द्वंद्व जाने कब से चल रहा है..... जाने कब से। और अक्सर प्रेम और सपनों के इस द्वंद्व में जीत सपनों की ही होती है, प्रेम हमेशा से हारता ही आ रहा है।'' (पृष्ठ-44)

स्पष्ट है कि यहाँ जीवन में प्रेम और सपनों की ही बहुलता प्राथमिकता है। दोनों चीज़ें कितनी रूमानी हैं जैसे कीमती गर्म कपड़ों से लैस होकर बर्फीली धुंध में घुसते हुए ठण्डे ताप का सुख छुआ जा रहा हो। कहानी अपनी वस्तु और विनिर्मिति में कभी-कभी निर्मल वर्मा की भाव-व्यंजना की ओर सरकती तथा छूती दिखाई देती है। निर्मल वर्मा प्रेम में देह को नकारते नहीं बल्कि वहाँ से आरंभ आरोहण सूक्ष्म रागात्मक भावलोक की ओर बढ़ता है। वहाँ स्थितियाँ नहीं, स्थिति का वितान है जिसके भीतर और आसपास का वातावरण कीट पतंगे, जीव, धूप, धागे, चाँदनी, चुप्पी जो भी है सब पात्र या पात्र की स्थिति का हिस्सा होते हैं। वहाँ धूप के एक मामूली से टुकड़े की तलाश किसी अबूझ-सी बेचैनी में ढल जाती है। इस कहानी में घटने की नाटकीयता है। और बड़े ड्रामेटिक स्तर की कहानी यह तब बनती है जब खुलासा होता है कि उसके बेटे के रूप में जाना जाने वाला क्षितिज न डी.डी. सर का बेटा और न बसंत का। वह डी.डी. सर के बेटे का बेटा है, जो विदेश में जा बैठा है तथा उसके द्वारा शोषित प्रेमिका उसकी सौतेली माँ बनकर घर में आ बैठी है। आजीवन दाह का नर्क भोगेगा वह। विस्तार बहुत न हो जाये इस भय में इतना फिर भी जोड़ा जाना चाहिए कि यह चेतना भगतनुमा रचनाओं को चुनौती पेश करती है कि उस ज़मीन पर हिन्दी लेखक उनसे खूब बेहतर लिख सकता है।

'सुबह अब होती है... अब होती है... अब होती है' एक लंबी कहानी है। उनतीस पृष्ठ लंबी। एक समय 'हंस' में 'लंबी कहानी' का सिलसिला चला था। लंबी कहानी का निर्वाह कठिन होता है क्योंकि उसमें काफी कुछ भर्ती हो जाता है। कुछ लंबी कहानियाँ लघुकथा की तर्ज पर 'लघु उपन्यास' के रूप में भी छपीं, क्योंकि उनमें औपन्यासिक कथावस्तु की जमीन व ताना-बाना था। बहरहाल पंकज सुबीर ने इस कहानी को भी रोचक बनाए रखा है। एक मनोवैज्ञानिक स्थिति पर इतना धैर्यपूर्वक रचाव प्रशंसनीय तो है ही।

संग्रह में यूँ तो अधिकांश कहानियों के शीर्षक अपने-अपने ढब और अर्थ-व्यंजना में प्राय: लीक से हटकर हैं किन्तु दो शीर्षक अजबीयत वाले हैं- 'रेपिश्क' व 'धकीकभोमेग'। 'रेपिश्क' अंग्रेज़ी, फारसी का सामासिक शब्द-युग्म है तो 'धकीकभोमेग' अक्षर सांकेतिक। रेप क्रिया है और इश्क कर्म दोनों मिलकर कर्त्ता में बदल जाते हैं। 'धकीकभोमेग' कथावस्तु का फार्मूला है जिसका विस्तार ही कहानी का ढाँचा खड़ा करता है। 'रेपिश्क' कथित आधुनिक जीवन के बीच मानवीय-जीवन की संभावनाओं की तलाश का उपक्रम करती है। परिवार नाम की संस्था अब दरक रही है क्योंकि वह कृषक, ग्रामीण जीवन की ज़रूरत वाली व्यवस्था है। जब तक खेती उत्तम और व्यवसाय मध्यम माना जाता रहा, यह मज़बूत रही। कारण कि लोग श्रम के ही नहीं जैविक स्तर पर एक-दूसरे से जुड़े या किसी हद तक निर्भर थे। ये दोनों ही सामूहिक कर्म हैं। खेती में तो बालक का भी एक उपयोग रहता है। नौकरी-चाकरी एकल उद्यम और जीवन है, पर प्राकृतिक संवेग, संवेद, ज़रूरतें तो वही रहीं क्योंकि शरीर का ढाँचा वही है। हाँ आदमी मुक्त होने की कोशिशों में जुटा है- ज़रूरतों से नहीं, ज़िम्मेदारियों से। परिवार ज़िम्मेदारी है पर नर अथवा मादा एक दूसरे की ज़रूरत हैं। इसी ज़रूरत ने 'लिव इन रिलेशन' की खोज की है। 'रेपिश्क' कहानी एक अलग कोण से इसी दशा व दिशा की पड़ताल करती है। इस विषय पर 'कस्बाई सिमोन' नाम से सुपुष्ट उपन्यास भी आया है पर जैसा कि पंकज सुबीर 'वस्तु' को अपनी तरह का एक अलग ही ट्विस्ट देते हैं तो यहाँ भी इश्क का रास्ता बिलकुल अलग है। 'धकीक भोमेग' तो अब दीवार पर लिखी हुई इबारत है। बाबाओं, गुरुओं की क्रियाएँ, करामातें और कर्म अपने मुँह आप ही अपनी कहानियाँ कह रहे हैं। पंकज सुबीर ने इसे दिलचस्प अंदाज की अठखेली के साथ कहानी में बुना है कि धर्म के धंधे में कितना व्यवसाय है... कैसे-कैसे लाभ हैं... कितना पतन और कितनी संभावनाएँ हैं। सुनील चतुर्वेदी के उपन्यास 'महामाया' से इसका ट्विस्ट भी अलग है।

'चाबी' छोटी-सी कहानी कि आदमी किसी ख़ास समय में ठहरकर कैसे रह जाता है। हिन्दी भाषा में ऐसी मानसिक स्थिति पर कहानी शायद ही कोई हो पर फिल्मों में अवश्य इस्तेमाल हुआ है यह फार्मूला। लेखक इसे अपनी तरह से अपने परिवेश की अनुकूलता में उपज्ञात करता है तथा 'औरतों की दुनियाँ' परिवार की उस पारंपरिक प्रतिष्ठा की बनगी है जिसे औरत की सहृदयता, उदारता ने बचाये रखा है। 'इन दिनों पाकिस्तान में रहता हूँ'- हमारे देश के आम मुसलमान के मुँह से निकली आह, छाती में उठती हूक है। यह मुसलमान पेड़ की वह हरी-भरी, ऑक्सीजन बाँटने वाली डाली है जिसके सिरे पर कुल्हाड़ी की धार रख दी गई है। अधिकांश मुस्लिम ऐसे ही थे जिनके बिना रामलीला, दशहरा, गणेशोत्सव, सावन संपन्न नहीं हो पाते थे। हमारे देखते-देखते वे जाने कहाँ सिमट गए। अब या तो उनके बेटी-बेटे इस्लामिक त्यौहारों के अवसरों पर बढ़-चढ़कर भागीदारी कर अपना मुसलमान होना सिद्ध करते दिखते हैं या हिन्दू त्यौहारों से बचते हुए। ज़हीर हसन भासा (भाई साहब) के आसपास पंकज सुबीर ने वह कहानी बुनी है कि ऐसे मुसलमान पर सौ-सौ हिन्दू कुर्बान होना चाहें। ऐसा परिवार न हो तो मुहल्ला सूना हो जाता है, शहर में कमी आ जाती है और ऐसे परिवार न हों तो सोचना पड़ता है कि देश का क्या होगा। ज़हीर हसन को पाकिस्तान में रहने के लिए विवश करने वाले लोग कौन हैं? सवाल बड़ा है और ज़रूरी है। सांप्रदायिक अलगाव पर ढेरों और बोरों कहानी कविताएँ है पर यहाँ अंदाज़-ए-बयाँ और ही है। इस कहानी में कहानी से कहानी निकलती है। 'जनाब सलीम लँगड़े और श्रीमती शीला देवी की जवानी',

'अप्रेल की एक उदास रात' तथा 'चौपड़े की चुड़ैलें' में भी यही सिलसिला है। विधाओं की तोड़फोड़ का रसायन है। ठीक भी है कि इसके साथ भी तथा इसके बावजूद इनमें कहानी है।

कथा कोई इकबालिया बयान नहीं है जिसे सबूतों के द्वारा सिद्ध किया जाना हो। इधर कई कहानियाँ ऐसी भी आई/आ रही हैं जिनका ओर-छोर ही पकड़ में नहीं आता। कदाचित् होता भी नहीं है, पर आपसी हरकारेपन के साथ लेखक उन्हें प्रमाणित करते देखे जाते हैं। यह दावा भी सुनने, पढ़ने या फेसबुकिया अखाड़े की दीवार पर देखने में आता है कि अमुक या तमुक कहानी की घटना या पात्र वास्तविक हैं। यदि ऐसा हो भी तो कहानी में उसका विलोपन होता है... करना पड़ता है तभी वह समाज के हिस्से का सच बनती है। यथार्थ घटनाओं की तर्क संगत परिणति के रूप में ही उभरता है। कहानी जीवन से जुड़ी विधा है और उसमें किये जाने वाले प्रयोग भी उसे अंकित जीवन के संदर्भ में ही सार्थक हो पाते हैं। ज़हीर हसन और अम्मी जैसे पात्रों का कहानी में आना भरी दुपहरी के बीच ठण्डे झोंके जैसा है क्योंकि वातावरण में तो ज़हीर हसन का यह विलाप ही गूँज रहा है-''अब तो ऐसा लगता है कि अस्पताल का वो कैम्पस शायद ख़्वाब में ही देखा था। जहाँ मैं मुसलमान नहीं था किसी के लिए। किसी को इस बात से कोई फ़र्क भी नहीं पड़ता था कि मैं मुसलमान हूँ। मगर अब तो...। मगर अब तो बस..... और बस मुसलमान ही हूँ। दुनियाँ भर के अपनों को छोड़कर दीन के अजनबियों के बीच पड़ा हूँ, अब तो वही मेरे अपने भी हैं, जो अपने थे उन्होंने तो अजनबी ही कर दिया। निकाल कर, काट कर फैंक दिया अपनी दुनियाँ से। आप कह सकते हो..... आप कह सकते हो कि मैं इन दिनों पाकिस्तान में रहता हूँ।'' (पृ. 123) इसके बाद क्या बचता है कहने को? कहानी पर और हालत पर।

'चौपड़े की चुड़ैलें' शीर्षक-कथा है जिसकी भूमिका ही उसे वास्तविकता का आधार देती है। कहानी राजेन्द्र यादव 'हंस' कथा-सम्मान के लिए चुनी गई (जिसका उल्लेख भी है)। कहानी हवेली के इर्द-गिर्द चलती है। हवेलियों पर साहित्यिक रचनाएँ कम हैं, फ़िल्में ज़्यादा जिनमें हवेलियाँ सदैव किसी रहस्य के लपेटे में होती हैं। रहस्य यहाँ भी है जो बदलते समय की विडंबना में पर्यवासित होता जाता है। हवेली... हवेली में डोलती तीन छायाएँ। छायाओं में एक अधेड़... दूसरी न अधेड़, न जवान बल्कि कहीं बीच में या लगभग जवान तथा तीसरी जवान। हवेली से जुड़ा बाग..... बाग में बावड़ी या चौपड़ा। हवेली, चौपड़े की चुड़ैलों के बीच पुराना मुलाज़िम हम्मू खाँ...। इस तरह भूतिया वातावरण की पूरी पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। हवेली के चौपड़े में दो लड़कियों की मौत पहले ही हो गई थी जो हवेली की न होकर हवेली में काम करने वाली थीं। चौपड़े की खूबसूरती ऐसी कि भरपूर जीने और मरने दोनों के लिए आमंत्रित करे। कहानी में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि कहानी के पीछे उसकी पृष्ठभूमि की पहचान उभरे। इस कहानी की सिफ़त है कि यहाँ समय और समाज की पहचान भी उभरकर सामने आती है। पुराने, खण्डहर बनते अतीत के दायरे में फैलती-फूलती नई संरचना, नयी प्रवृत्ति।

नर के लिए मादा और मादा के लिए नर की ज़रूरत आदिकाल से चली आई है। हवेली की पुरानी पीढ़ी गुज़र चुकी थी। चुड़ैलों को भी भूतों की अपेक्षा होनी स्वाभाविक है। चुड़ैलों की छाया में रहते-बसते कुछ-कुछ तो हम्मू खाँ ही भूत से हो गये थे। इधर गाँव में बच्चे जो किशोर और किशोर से युवा हो रहे थे..... जो पेड़ से टपकती रसीली कैरियों की चाह में बाग की ओर आते थे..... जो चुड़ैलों के बारे में उत्सुक थे... जिन्होंने कुछ क़िस्से सुन लिये थे..... जिन क़िस्सों में कुछ 'नीली फिल्मों की तरह नीले-नीले थे' उन्होंने चुड़ैलों को देखने के लिए सामूहिक साहस जुटाया और एक रात तीन सायों को हवेली की ओर से चौपड़े की तरफ जाते देखा। वहाँ कुछ भूतों के साये भी उभरे। पेड़ों पर छिपकर बैठे, लटके लड़कों ने देखा कि भूतों के ये साए पहचाने हुए हैं। इनमें-''कुछ पिता हैं, कुछ चाचा हैं, कुछ बड़े भाई हैं और हाँ मामा भी। कुछ भूतों के हाथों में कुछ बोतलें भी थीं।''- अधेड़ चुड़ैल हम्मू खाँ पर जा बिछी और चौपड़े के भीतर वाले कार्यक्रम में लड़कों के कई आदरणीय रिश्ते 'चट्टानों पर वस्त्रहीन बिछे हुए थे'। कहानी को ट्विस्ट देते हुए चुड़ैलें टैक्नोलाइज होती है... पब्लिसिटी के पंखों पर बैठकर विस्तार लेती हैं- विज्ञापन के लिए मीडिया 'हायर' करना सीखती हैं। मीठी बातों में नंगई को फ़न की प्रतिष्ठा देती हैं। इस फ़न को लेकर 'सोसायटी तथा सोशल हल्कों' की ओर से विरोध भी किया गया था, मीडिया मालिकों के विरुद्ध। किन्तु मीडिया के मालिक जानते हैं कि- ''मोमबत्तियाँ पब्लिसिटी के लिए जलाई जाती हैं और मशालें क्रांति के लिए। इसलिए जब तक मोमबत्तियाँ जलाई जा रही हैं तब तक घबराने की कोई बात नहीं है।'' (पृ. 92) नंगई अब शिल्प है... हवेली अब वातानुकूलित है... अब चुड़ैलों की कंपनी है। चुड़ैलें अब हवेली से निकलकर वर्चुअल हो गई हैं... अब वे चौपड़े की चुड़ैलें नहीं रहीं, ब्रम्हाण्ड की चुड़ैलें हो गई हैं... पोर्न चुड़ैलें। कहानी पाठक को अथाह सागर की गरजती लहरों के बीच ले जाकर छोड़ देती है।

पंकज सुबीर ने कहने का अपना तरीका ईजाद किया है- किस्से की गढ़ंत में कहानी की लड़ी से बनती कहानी... सरस, मानीख़ेज़ जिसे पाठक पानी पी-पीकर पढ़ने का कर्त्तव्य न निबाहे। भाषा के अर्थ को वह मुट्ठी में बंद सिक्के की तरह खोलते हैं। इन कहानियों का बहुआयामी यथार्थ कहन के उपलब्ध स्वरूप को अपर्याप्त पाकर परिवर्तन की उत्कट बेचैनी की प्रविधि खोजता नज़र आता है। विन्यास का खिलंदड़ा अंदाज़ इसी की देन है। इन कहानियों में देह अपने पूरे अस्तित्व के साथ उपस्थित है तथा उसका उपयोग भी कहानी की माँग के तहत बड़े सलीक़े से हुआ है।

संग्रह की एक दो कहानियों को ज़िक्र में न लें तो वैचारिकता के प्रति दिखती उदासीनता परंच सभी कहानियाँ समाज से अपना रिश्ता परिभाषित करती चलती हैं। अपने कलात्मक रचाव में नई ज़मीन पर खड़ी होती इन कहानियों का हस्तक्षेप व्यंजना की एक ख़ास खनक के साथ समय की विरूपताओं को गहरे से चीन्हता है।

❑❑❑

निराला नगर, सिंहपुर रोड, मुरार
ग्वालियर-474006 (म.प्र.)
मोबाइल : 9425364213

समीक्षा पत्र

एक शहर देवास, कवि नईम और मैं!

समीक्षक : डॉ. विजय बहादुर सिंह

लेखक : प्रकाश कान्त

प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद, उप्र

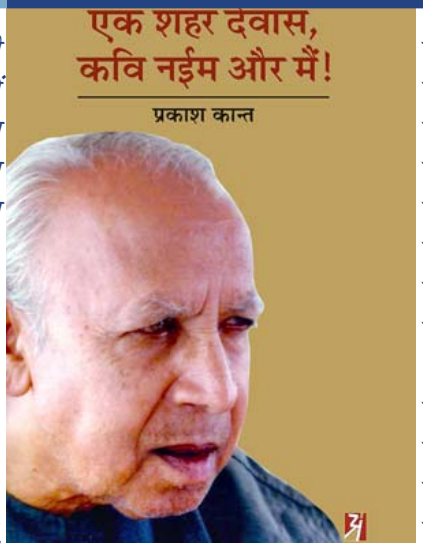

(लेखक को पत्र लिखकर उसकी किसी कृति की समीक्षा करने की हिन्दी साहित्य में बहुत पुरानी परंपरा रही है। आज उसी परंपरा में प्रस्तुत है वरिष्ठ आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह द्वारा वरिष्ठ कथाकार प्राकश कान्त को उनकी हालिया पुस्तक 'एक शहर देवास, कवि नईम और मैं' पर लिखा गया पत्र।)

प्रिय प्रकाश कान्त जी,

सस्नेह नमस्कार !

'एक शहर देवास, कवि नईम और मैं' कल साढ़े ग्यारह बजे रात तक पढ़कर खत्म किया। इतनी जल्दी मैं किसी किताब को पढ़ नहीं पाता पर इसे तो पढ़ गया या यों कहिए यह मुझसे ख़ुद को पढ़वाती रही। वो एक शेर का मिसरा है न- 'और कुछ लोग भी दीवाना बना देते हैं' की तरह।

किताब में गहरी आत्मीयता और वस्तुपरक विवेकमत्ता का इतना सहज, ऊष्मा से भरा आलम है कि पढ़ने वाले का मन भी गुनगुना हो उठता है। शहर देवास की बसाहट, 'विकास' के बाद का चेहरा और तंगहाली के बीच पनपतीं गहरी और भरोसेमंद दोस्तियाँ कुछ ऐसे मूल्य रचती हैं जिनसे यह लगता है कि सौन्दर्य वहीं है जहाँ सचमुच संघर्ष है। या फिर संघर्ष ही सौन्दर्य है।

मेरे मित्र और कवि नईम को लेकर मेरी अपनी भी और कुछ यादें हैं पर आपके अनुभवों के आईने में उनकी जो छवि उतरी है वह बेहद विरल और अपनी सामान्यता में असामान्य है। कोई कवि जो अध्यापक हो, अपने छात्रों में ऐसों की तलाश कर ले या कहूँ पहचान कर ले जो सचमुच उसके रास्ते के ही सहपथिक हों, मेरी दृष्टि में अहम् बात है। चूँकि मैं भी ये कोशिशें करता रहा हूँ इसलिए कवि मित्र का यह आचार मुझे अधिक ताक़त-सा दे गया। आप, प्रभु जोशी, काका और विक्रमसिंह से तो प्राय: मेरा मिलना भी होता रहा। तब मुझे लगता था कि यह मेरे मित्र का फैन्स-क्लब है। इस किताब को पढ़ चुकने के बाद लगा कि यह उसकी वंश-बेलि है जिसमें सबको अपना-अपना स्वतंत्र और मौलिक चेहरा पा लेने का माद्दा है।

नईम यानी आपके 'सर' की जो खूबियाँ किताब में गिनाई गई हैं, उनमें से वे टिप्पणियाँ मुझे बेहद ख़ास लगीं जो उन्होंने आपको लेकर मौक़े-मौक़े पर की हैं। विट् या विदग्धता से भरी-पूरी तो हैं ही, अधिकारपूर्ण, आत्मीयतापूर्ण और सचेतक भी हैं। उनमें कसाई की हिंसक निर्ममता नहीं, शिल्पी की सावधानियाँ हैं। ऊपर से उनका ज़िम्मेदारी से भरा अभिभावकत्व। अब लगता है कि हमारी पीढ़ी के कुछेक लोग कहीं से ये संस्कार शायद पा गए हों जिन से बाद या आगे की दुनिया भी हरी-भरी और सुसमृद्ध हो सके। और सामान्यीकरण करूँ तो कहूँ प्रत्येक काल और समय में ऐसे कुछ लोग होते और रहते आए हैं कि संसार अपने समय के तमाम अँधेरों और विचलनों के बीच ही अपने को बचाने में कामयाब होता रहा आया है। कुछ ही दिनों पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित मित्रवर राधावल्लभ त्रिपाठी का संस्कृत से हिन्दी में रूपान्तरित उपन्यास 'और फिर' पढ़ने का मौक़ा मिला। यह पहली सदी यानी कनिष्क-काल का है। इसमें गुरुकुलों में दो तरह के आचार हैं। कुछेक बेहद कठोर और शास्त्रजड़, कुछेक तरल, स्नेहिल और ज्ञान की सांकेतिक आभा से रौशन करते लोग। नईम मुझे इसी परवर्ती आचार परम्परा के लगते हैं।

यह अच्छा रहा कि आपके दु:ख तो यहाँ हैं पर उनका कातर विलाप नहीं। विपरीत इसके उन्हें भी जीवन का सहज हिस्सा मान जीते रहने की अदा और कला। नईम की पत्नी यानी आपकी दीदी, स्वयं आपकी जीवन-संगिनी संजीवनी, और माँ-बहनें, मित्र भण्डारी- सबके सब बगैर बोले भी खूब जीवंत हैं। नईम की आत्मसजगता और अनासक्ति के साथ आस-पास को लेकर सघन राग और ज़िम्मेदारियाँ, एक ऐसे संसार की रचना करती हैं, जिनसे इस दुनिया के बचे रहने की उम्मीदें जागती है। उनमें जितना स्नेह है, उतनी ही अविज्ञापित करुणा। ऐसा विरल सगापन जिस पर कुछेक दुनियादार शायद संदेह करें।

उनके लेखक और कवि को भी आपने काफ़ी चौकसी के साथ उतारा है। वे सारे ख़त अगर एक भूमिका के साथ पेश कर दिए जाएँ तो यह भी उनका एक अलग ही चेहरा होगा। समीरा अगर कर रही हैं तो संभव है उनका यह रूप अधिक प्रमाणिकता के साथ आ सके।

उनके कवि को भी आपने काफ़ी विवरणों-उद्धरणों के साथ न केवल याद किया है बल्कि गहरी, समझदार टिप्पणियाँ की हैं। इस कोशिश में मुझे यह लगा कि प्रकाशकांत नामक शख़्स में आलोचक की प्रतिभा भी छिपी बैठी हैं। वह चाहे तो यह उभर भी सकती है। वैसे मैं मानता हूँ कि उनकी वैचारिकता वाम थी, यद्यपि वह वादग्रस्त नहीं थी। हमारे चतुर्दिक जो कटखनी हकीकतें हैं, उम्मीदों को तोड़-ताड़ डालने वाले नज़ारे हैं, उनमें यही सब, इसी तरह

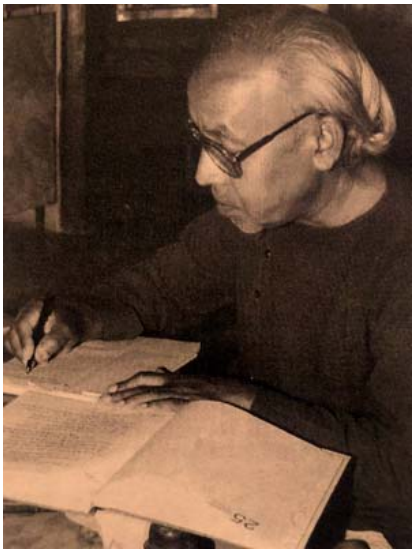

लिखा ही जा सकता था। हाँ, पर उनकी एक ख़ास तरह की निस्संगता जीवन-यथार्थ को जिस तरह परोसती है उसमें बुन्देली दो टूकपन प्रबल है। मुझे लगता है गीत में इतनी निस्संगता कला-रस के लिए ठीक नहीं। तब भी उनकी अपनी मौलिकता और उसका शिल्प तो है जो कबीर के साथ उन्हें निराला के पास भी ले जाता है। काश! दोनों ने इसे रवीन्द्रनाथ से सीखा होता। निराला तो रवीन्द्र होना भी चाहते थे पर अत्याधिक पाण्डित्य-प्रखरता और तटस्थता के चलते वे हिन्दी-समाज के वैसे नहीं बन पाए जैसे बँगला के रवीन्द्र बने। ये बातें मैं गीत-शिल्प के सन्दर्भ में कह रहा हूँ।

ख़ैर! किताब इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें देवास शहर के साथ-साथ किंचित निमाड़, बहुलांश मालवी लोक जीवन के साथ बुन्देली रंग का सौन्दर्य एकत्र उपलब्ध है। आपका गद्य बेहद जानदार और शानदार है। आपकी दृष्टि प्रखर, निर्मल, बेहद विनयी, कृतज्ञ किन्तु सजग है। कामना है ऐसे शिष्य और सहचर प्रत्येक गुरु के सौभाग्य बनें।

सस्नेह।

विजय बहादुर सिंह

7 नवंबर 2018 (6: 45 से 9 बजे सुबह तक) निराला नगर, भोपाल

पुनच : सम्बोधन में 'सर' और फिर 'नईम' का प्रयोग कुछ खटका। शायद 'नईम सर' ज़्यादा ठीक होता।

❑❑❑

29, निराला नगर, भोपाल, 462003, मप्र
मोबाइल : 9425030392

कथा समीक्षा

मालूशाही! मेरा छलिया-बुरांश

समीक्षक : पंकज सुबीर

लेखक: प्रज्ञा

प्रकाशक: नया ज्ञानोदय, अक्टूबर 18

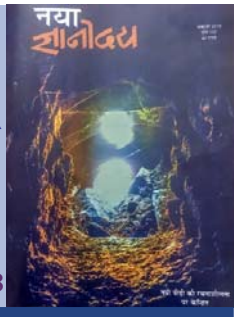

इन दिनों प्रेम कहानियाँ बहुत कम पढ़ने में आती हैं। और ऐसी प्रेम कहानियाँ तो बहुत ही कम पढ़ने में आती हैं, जो समाप्त होने के बाद बहुत देर / दिनों तक अपने आप से जोड़े रखें, उदास बनाए रखें। उदास इसलिए, क्योंकि प्रेम कहानी जब तक उदास नहीं करेगी, तब तक वह आपके ज़ेहन में बने रहने में सफल नहीं होगी। प्रेम कहानी का मूल भाव ही उदासी है। भारतीय ज्ञानपीठ की मासिक पत्रिका 'नया ज्ञानोदय' के अक्टूबर 2018 अंक में कथाकार प्रज्ञा की एक कहानी प्रकाशित हुई है, जिसका बहुत ही अलग तरह का शीर्षक है 'मालूशाही! मेरा छलिया बुरांश'। अपने अटपटेपन और अनोखेपन के कारण यह शीर्षक कहानी पढ़ने का आमंत्रण देता हुआ सा है। और यह आमंत्रण पाठक के लिए बहुत सुखद यात्रा में तब बदल जाता है, जब वह इस आमंत्रण को स्वीकार कर कहानी को पढ़ने लगता है। 'मालूशाही-राजुला' की कहानी में से मालूशाही को लिया है और उसके साथ बुरांश के फूलों को गूँथा गया है। कुछ फूलदार वृक्ष/ पौधे तो जैसे प्रेम के स्थायी हमसफ़र हैं। जैसे पलाश, गुलमोहर, अमलतास, कचनार और बुरांश। प्रज्ञा ने इनमें से बुरांश को अपनी कहानी के लिए पात्र के रूप में चुना है। पात्र के रूप में चुनना अलग बात होती, किन्तु प्रज्ञा ने बुरांश को अपनी कहानी का पात्र बहुत सफलता पूर्वक बना दिया है। मनिल का बुरांश में रूपांतरण / कायांतरण इतनी स्वभाविकता के साथ किया गया है, कि पाठक मनिल के नहीं होने को बुरांश के रूप में स्वीकार भी कर लेता है। यह लेखक की बड़ी सफलता है। कहानी धरा, मुक्ता और मनिल की है, जिसमें बुरांश भी एक पात्र के रूप में पूरी कहानी में मौजूद रहता है। प्रज्ञा ने प्रेम कहानी को बहुत मृदु भाषा में लिखा है। प्रेम की नफ़ासत और नज़ाकत को बहुत कोमल शब्दों से कहानी में विस्तार प्रदान किया है। ऐसा लगता है, जैसे कोई चंदन की धूपबत्ती गहरी अँधेरी रात में सुलग रही है, दिख नहीं रही है। जैसे कोई मद्धम-मद्धम बाँसुरी से कहीं दूर, बहुत दूर कोई उदास धुन बज रही है। यह कहानी शिल्प की दृष्टि से भी अनूठी कहानी है। रहस्य के कुहासे में डूबी हुई कहानी परत दर परत जब पाठक के सामने खुलती है, तो अपने प्रभाव में पूरी तरह से पाठक को बाँध लेती है। पाठक धरा के साथ-साथ पहाड़ों की उस धुंध में खोने लगता है, जहाँ मुक्ता और मनिल बरसों से बुरांश के साए में बैठे हुए हैं, एक-दूसरे में खोए हुए। कहानीकार ने प्रेम को चित्रित करते समय बहुत सावधानी से वाक्य गढ़े हैं, जैसे कोई स्थापित ग़ज़लकार किसी ग़ज़ल में चुन-चुन कर शब्दों का इस्तेमाल करता हो। धरा और मुक्ता के बीच के संवाद प्रेम के बहुत से पहलुओं को उजागर करने वाले हैं। यह अशरीरी प्रेम की कथा है, आज के विशुद्ध दैहिक प्रेम वाले समय में इस कहानी को अगर आज का युवा पढ़ ले, तो शायद हतप्रभ ही रह जाए कि अच्छा ! प्रेम ऐसा भी होता है? कहानी लम्बी होने के बावजूद भी पाठक को कहीं थकाती नहीं है, कथारस का प्रवाह तथा घटनाओं की रोचकता पाठक को कहानी से बाँधे रखते हैं। प्रेम कहानी लिखना इन दिनों जब ख़तरा माना जाता है, तथा प्रेम के बदले देह पर लिखना अधिक हो रहा है, वैसे समय में प्रज्ञा ने इस ख़तरे को न केवल उठाया है बल्कि सफलता पूर्वक उस चुनौती को पूरा करके बताया है। 'मालूशाही! मेरा छलिया बुरांश' उस प्रेम की कहानी है, जिसे शब्दों में व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता हो, उसे व्यक्त कर दिया जाए तो ऐसी कहानी बनती है, और देर तक ज़ेहन में बनी रहती है।

❑❑❑

कथा समीक्षा

मर... नासपीटी ! / चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी

समीक्षक : सुधा ओम ढींगरा

लेखक : पंकज सुबीर

प्रकाशक : नया ज्ञानोदय (दिसम्बर 18 अंक)/लमही (अप्रैल 13 अंक)

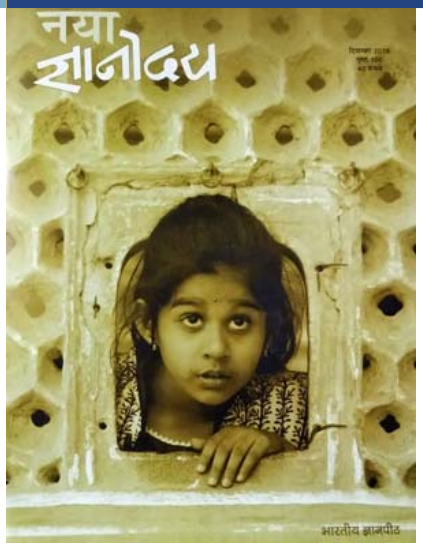

मर... नासपीटी!

'नया ज्ञानोदय' दिसम्बर अंक में पंकज सुबीर की कहानी 'मर... नासपीटी!' पढ़ी। इस कहानी को पढ़ते हुए मेरे ज़हन में पंकज की एक और कहानी घूम गई। उसका नाम है -'चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी'; जो कभी 'लमही' पत्रिका में छपी थी और बाद में 'कसाब. गांधी@ यरवदा डॉट इन' कहानी संग्रह में भी है। मेरी सोच ने ही एक प्रश्न मेरे सामने चुनौती के रूप में खड़ा कर दिया! 'मर नासपीटी!' पढ़ते हुए 'चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी' कहानी क्यों याद आई ? क्यों? क्या दोनों में कोई समानता है? अरे नहीं दोनों कहानियों में कोई समानता नहीं ! दोनों कहानियाँ अलग-अलग ज़मीन पर रची-बसी और तराशी गई हैं। दोनों का फ्लेवर, कलेवर भिन्न है। बस दोनों कहानियाँ मुझे मेरे अतीत में ले गईं, उस अतीत में जो देश में बीता यानि बचपन।

पहले मैं बात 'मर नासपीटी!' की करूँगी; जिसे पढ़ते हुए बचपन में देखे कई दृश्य आँखों के सामने घूम गए, ये दृश्य कहीं ज़हन में सिमटे बैठे थे। जैसा कि मैंने ज़िक्र किया, पंकज सुबीर की कई अन्य कहानियाँ भी जब मैंने पढ़ी थीं तो वे कहानियाँ मुझे मेरे छुटपन में ले गईं। उन्हें पढ़ते हुए दृश्य आँखों के सामने ऐसे घूमने लगे जैसे मैं उन्हें फिर से जी रही हूँ। यह पंकज की क़िस्सागोई का कमाल है; जो पाठक कहानी को जीने लगता है और कहानियों में दृश्य चित्रण तो ग़ज़ब के होते है।

हालाँकि यह माना जाता है कि लेखक की ऑबज़र्वेशन आमजन से अलग, तीव्र और गहन होती है। जिन छोटी-छोटी बातों और चीज़ों को लोग नज़रअंदाज़ कर जाते हैं या उनकी दृष्टि से ओझल रहती हैं, लेखक उन्हें भी पकड़ लेता है। पर पंकज सुबीर का इर्द-गिर्द के माहौल का अवलोकन तो बेमिसाल है।

'मर नासपीटी!' कहानी का आरम्भ दो मुस्लिम महिलाओं के लड़ाई-झगड़े और गाली-गलौच से होता है। लेखक ने जिस तरह दृश्य बाँधा है, वह कहानी का दृश्य नहीं लगता, गली-मोहल्ले और गाँव में ऐसे दृश्य अक्सर नज़र आते हैं। ऐसा अवलोकन उनकी हर कहानी में झलकता है।

पंजाब के जालंधर शहर में जन्मी पली हूँ। 1982 में देश छोड़ मैं अमेरिका आ गई थी। इस कहानी को पढ़ कर उस समय के कई दृश्य मेरी आँखों के आगे घूम गए। पड़ौसनों, देवरानी-जेठानी के झगड़े, वे भी भारी-भरकम पंजाबी गालियों के साथ याद आ गए। 1985 में मैंने एक नाटक लिखा था, ''बात कहाँ तक पहुँची''; जिसका आरंभ भी इसी तरह दो महिलाओं के झगड़े से होता है, गाली-गलौच में जिस-तिस का भी नाम आता है वह झगड़े में शामिल हो जाता है। दोनों महिलाओं के झगड़े का कारण क्या है? न किसी को मालूम है न कोई जानना चाहता है, बस हर कोई उनके झगड़े में कूद पड़ता है। गिले-शिकवों और कोसने के बाद अंत में वे दोनों महिलाएँ टोकरी उलट कर रखती हैं , कल यहीं से झगड़ा शुरू करेंगे। 'मर नासपीटी!' में जिस तरह का झगड़ा दर्शाया गया है, वैसे ही झगड़े मैंने देखे हैं, उन्हीं से प्रभावित हो कर मैंने यह नाटक लिखा; जिसे रंगमंच पर मैंने कई बार मंचित किया।

'मर नासपीटी' कहानी की भाषा बेहद ख़ूबसूरत लगी। मुस्लिम महिलाओं की लड़ाई का अंदाज़ और उसके बाद पारिवारिक रिश्तों की मर्यादा, नज़ाकत-नफ़ासत को भाषा ने ही उभारा है। लड़ाई को शुरू करके चरम सीमा तक ले जाने की बुनावट बहुत ज़बरदस्त लगी।

''जैसे इनका शजरा तो सीधे मुग़लों से जाकर ही जुड़ता है ? झूठ बोलने वालों की ज़ुबान दोज़ख़ की आग में जले। किसके घर में चूहे भी बिना रमज़ान के रोज़े रखते हैं, दुनिया को सब पता है। ख़ुदा को सब पता है कि कौन सच्चा है और कौन कुफ़्र बक रहा है। जो झूठ बोल रहा हो उसकी क़बर को आधी रात को बिज्जू खोद-खोद के खाएँ। अय दो जहान के मालिक अब तो तू ही इन्साफ़ कर और ऐसा कर कि झूठ बोलने वालों को कोढ़ फूटे, सड़-सड़ के मौत हो झूठ बोलने वालों की।''

घरों पर पत्थर गिरते हैं, यह समाचार मैंने किसी दैनिक समाचार पत्र में पढ़ा था। पर लेखक ने उस घटना को कहानी में इस तरह से प्रयोग किया कि अचंभित कर दिया और कहानी का अंत इतना अप्रत्याशित कि एक पाठिका श्लाघा किये बिना नहीं रह सकती।

पंकज सुबीर की कहानियों में रोष और दर्द इतने साथ-साथ चलते हैं कि इससे पहले पाठक उन्हें समझे, वह कहानी के साथ बह जाता है और संवेगों से भीग जाता है।

'मर नासपीटी' कहानी की पात्र ज़रीफ़ा का हलीमा के प्रति रोष है; जो लड़ाई के माध्यम से व्यक्त होता है और लेखक उसका

कारण भी स्पष्ट कर देता है। ज़रीफ़ा की सोच है कि हलीमा ने उससे उस इंसान को छीना है; जो उसका होने वाला था या उसका हो सकता था। वह सच को स्वीकार नहीं कर पाई कि मंसूर ने हलीमा को चुना, ज़रीफ़ा का दबा रंग आड़े आया। वह मंसूर को तो कुछ कह नहीं पाती पर हलीमा को दोषी ठहरा कर लड़ाई के ज़रिए अपना रोष निकालती है। ज़रीफ़ा और हलीमा का झगड़ा जिस तरह मोहल्ले वालों को खिड़कियाँ खोलने और उनका तमाशा देखने को मजबूर करता है, मैं भी बड़ी रुचि से इस लड़ाई को पढ़ने लगी, यह जानने के लिए कि आगे क्या होता है, अंत क्या होगा?

इस कहानी के अंत की ओर जब बढ़ी तो बेहद हैरानी हुई। क्या समय बाँधा है लेखक ने-''शिकारी एकदम सामने खड़ा है कमान को तीर पर चढ़ाए और शिकार जो एकदम निशाने पर है, वह अंतिम प्रार्थनाओं में जुट गया था।'' यहाँ से लेखक पाठक को कहानी के क्लाइमेक्स का सरप्राइज़ देने के लिए तैयार करता है।

''हलीमा कुछ देर तक उसे देखती रही, देखती रही अपनी सबसे बड़ी दुश्मन को, जो उसके सामने सारे हथियार डाले बैठी हुई थी। कुछ देर तक देखने के बाद उसने ज़रीफ़ा के दाँए हाथ में रखे हुए सारे पत्थर अपने हाथ में ले लिए। कुछ देर तक ग़ुस्से में ज़रीफ़ा की तरफ़ देखती रही, फिर बुदबुदाते हुए बोली ''मर नासपीटी'' और एक पत्थर अंदाज़ से उस दिशा में फेंक दिया जहाँ टीन की छत थी। पत्थर टीन की छत पर दहशत की आवाज़ पैदा करते हुए गिरा। हलीमा अब पागलों की तरह ''मर नासपीटी''-''मर नासपीटी'' बोलते हुए हर दिशा में पत्थर फेंक रही थी। सामने उसकी सबसे बड़ी दुश्मन घुटनों के बल बैठी बिना आवाज़ किए रो रही थी। अँधेरी गुफ़ा की तरह की उस खोह में बस वह दोनों औरतें थीं। पत्थर दहशत की आवाज़ के साथ बरसते जा रहे थे, बरसते जा रहे थे, बरसते जा रहे थे।''

इस अंत ने मुझे और भी अचम्भित कर दिया .... एक औरत और एक माँ की पीड़ा कैसे दूसरी औरत और माँ सहजता से समझ जाती है; जबकि दोनों पात्र ज़रीफ़ा और हलीमा एक दूसरे की दुश्मन हैं। ज़रीफ़ा की दुश्मनी, अस्वीकृति की मौन व्यथा है, जो लड़ाई में रोष के रूप में प्रकट होती है और अंत तक आते-आते बेटी के भाग जाने के दर्द को पत्थरों में समेट कर समाज पर फेंकती है। समाज ही तो ऊँच-नीच परिस्थितियों में जीने नहीं देता। हलीमा उसकी दुश्मन है, जो कभी उसकी सहेली थी , रिश्ते में बहन है, पर उनसे परे होकर वह एक औरत और माँ बनकर उसके दर्द की साझीदार बन जाती है। माँ की पीड़ा माँ और औरत का दर्द औरत ही समझ सकती है, पंकज सुबीर की कहन शैली का कमाल है, कई बातें पात्रों ने कही नहीं पर उनकी ध्वनि पाठक सुनता है। बड़ी कुशलता से उन्हें बुना गया है। मुस्लिम महिलाओं के झगड़ने का अंदाज़, गालियाँ, रिश्तों का मान-मर्यादा दर्शाने में जहाँ भाषा बहुत सहायक रही है; वहीं लेखक की चित्रण शैली ने भी बहुत प्रभावित किया है।

''आय-हाय... बात तो सुनो नवाबज़ादी की ? कड़वे तेल में दाल बघारने वाले घी की बात कर रहे हैं। ख़ुशबू भी मालूम है घी की ? अरे.... झूठ बोलो तो ख़ुदा के कहर से तो डरो। सात आसमानों के मालिक का तो ख़ौफ़ खाओ, उसकी मार से तो डरो। इसके-उसके टुकड़ों पर पलने वालों के घर में सुल्तानी दावतें हो रही हैं?''

समाज के ढाँचे और समाज की प्रवृत्तियों के प्रति विरोध का एहसास भी पंकज की कहानियों में गुपचुप मिलता है, जिसको बस महसूस किया जा सकता है। पंकज सुबीर जिस कुशलता से दृश्य निर्मित करते हैं और उनमें भावनाओं और प्रवृत्तियों के पैटर्न डालकर उन्हें जीवंत प्रस्तुत करते हैं, उन्हें पढ़कर, जीकर ऐसा महसूस होता है कि उनकी तीव्र और पैनी दृष्टि उनके दृश्य और चरित्र-चित्रण में बहुत सहायक होती है।

चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी

पंकज के अवलोकन का गुण 'चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी' कहानी में खुलकर गोचर हुआ है। इस कहानी के दृश्य भी मुझे मेरे बचपन में ले गए थे। इस कहानी में पात्र हमारे सामाजिक ढाँचे, समाज की कुरीतियों, प्रवृत्तियों और समाज में व्याप्त दोहरी मानसिकता के प्रति खुल कर बात करते हैं।

यह एक लम्बी कहानी है और इसकी ख़ूबसूरती इसके दृश्यों में और पंकज की क़िस्सागोई में है। आज की पीढ़ी हर प्रश्न का उत्तर गूगल में तलाश लेती है। यह कहानी उस पीढ़ी की है, जिसके पास आधा-अधूरा ज्ञान था, समझ से बाहर के समाचार थे, टीवी पर देखे ऐसे विज्ञापन थे; जिन्होंने भीतर जिज्ञासा तो पैदा कर दी थी और खड़े कर दिए थे ढेरों प्रश्न, पर उनके उत्तर न घर से मिलते थे न बाहर से। जिज्ञासा का समाधान न होना कई विषमताएँ पैदा करता है; खासकर किशोरावस्था की ओर बढ़ रहे बच्चों में। ऐसे ही कई प्रश्नों और समस्याओं को लेकर यह कहानी रची गई है।

मेरे लिए इस कहानी का आकर्षण हर समय बना रहता है। जब भी कोई कहानी पढ़ती हूँ, और अगर उस कहानी ने मुझे कुरेदा है तो यह कहानी भी साथ आ खड़ी होती है।

इस कहानी ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। इसकी भाषा, शैली तो कमाल की है ही, शिल्प में भी एक रिद्म है।

इसमें दर्शाए कई दृश्य ऐसे हैं, जो मैंने अपने भाइयों के साथ जिए हैं। एक दृश्य में नानी कहानी सुनाती है और उस कहानी में आए शब्द बच्चों के दिमाग़ में बैठ जाते हैं, पर उनका उत्तर नहीं मिलता-''हममें से एक ने फिर से हिम्मत की और पूछा कि नानी, रानी में अगर आग भरी थी तो वो ज़िंदा कैसे थी। नानी कुछ कहतीं उससे पहले ही बाहर बैठे नानाजी के बड़बड़ाने की आवाज़ आई 'कछु समझ भी है कि नइ

है ? मोड़ा-मोड़ी को कौन सी कहानी सुनाबे की है और कौन सी नइ सुनानी है।' नानाजी की आवाज़ आते ही कमरे में मानो कर्फ़्यू लग गया, नानाजी का बड़ा ख़ौफ़ रहता था उन दिनों। नानाजी की आवाज़ सुनते ही नानी भी एकदम से चुपा गईं । हम समझ गए थे कि ये जो आग है ये भी एनफ्रेंच की तरह की कोई चीज़ है। इसके बारे में यदि ज़्यादा पूछा गया तो चमाटे पड़ने की संभावना है। रानी के अंदर की उस आग को अपने-अपने दिमाग़ में लगा कर हम सो गए।'' मैं और मेरे भाई प्रज्ञा चक्षु मौसी से रात को सोने से पहले कहानी सुना करते थे, बस ऐसी ही एक आग में हम भी उलझ गए थे और अपने हिसाब से उत्तर तलाशा था, जैसे इस कहानी में बच्चों ने तलाशा।

दृश्य देखिये-कहानी की अगली सुबह हम बच्चे सुबह होने की जैसे प्रतीक्षा ही कर रहे थे। दूध पीया और लोटे उठा कर भागे जंगल की तरफ। नानी के घर में उस समय शौचालय नहीं था। जैसा कि उस समय अमूमन गाँवों में होता था, सुबह होते ही पूरा गाँव जंगल या खेतों की तरफ निकल जाता था, शौच करने के लिये। हम क़स्बे से जाते तो हमारे मन में इस जंगल में शौच करने को लेकर भी एक अतिरिक्त एडवेंचर होता था। क़स्बे में तो घर में ही शौचालय बना हुआ था सो वहाँ ये सुख नहीं था। सावन की ताज़ा-ताज़ा उगी हुई घास पर बैठे हैं लोटा लेकर, दुनिया जहान की बातें कर रहे हैं, हँसी मज़ाक कर रहे हैं। हम बच्चे अलग-अलग बैठने की बजाय एक साथ ही बैठते थे। एक साथ मतलब थोड़ी थोड़ी दूरी पर ताकि सबको एक दूसरे के चेहरे दिखते रहें। उससे चर्चा करने में आसानी रहती थी। हाँ उस बीच अगर कोई बड़ा बूढ़ा उधर से गुज़रता तो फटकारता हुआ जाता 'ऐ मोड़ा होन जा बख़त तो चुपाय के बैठा करो। लच्छन नइ सिखाए क्या बाप मतारी ने।' उस दिन भी रात की कहानी को लेकर बहुत सारी बातें हुईं। हमने उन बातों में अपनी टीवी की एनफ्रेंच और महीने के उन खास दिनों वाली बात भी जोड़ी। कड़ी से कड़ी जोड़ने की बहुत सारी कोशिशें हुईं लेकिन बात कुछ बनी नहीं। हाँ इतना ज़रूर हुआ कि बड़े मामा के लड़के ने बताया कि ये आग वाली बात वो एक बार और भी सुन

चुका है। एक दिन छोटे चच्चू को कलुआ की माँ (मामा के हरवाहे की पत्नी) के घर से निकलते देख अम्मा (नानी) ने खूब हंगामा किया था, और घर बुला कर कलुआ की माँ को डाँटते हुए कहा था 'काय री कित्ती आग भरी है री तेरे भीतर ?'। उस दिन छोटी चाची दिन भर ख़ूब रोईं भी थीं। खाना भी नहीं खाया था उनने।

इस घटना से भी हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाये थे, मगर ये ज़रूर पता चल गया था कि वो जो आग रानी के अंदर भरी थी वो ही कलुआ की माँ के भी अँदर है । एक हैरत की बात ये लगी कि कलुआ की माँ के घर तो छोटे मामा गये थे, जले तो वो ही होंगे फिर मामी क्यों रोईं। नदी पर नहाते समय ये तय हुआ कि यहाँ से घर लौटते समय हम सब कलुआ के घर जाएँगे। उसकी माँ को देखने, शायद वहाँ से ही कुछ सूत्र मिल जाये। वैसे भी कलुआ के घर हमारा आना-जाना था। लौटते समय हम बच्चे योजना के अनुसार कलुआ की माँ के घर गये थे, उन्होंने खूब आवभगत की थी हमारी। चना, गुड़, सत्तू और गुड़ की मीठी चाय भी पिलाई। सब कुछ मिला मगर हम जो देखने गये थे वो हमें नहीं मिला। हममें से एक दो ने कलुआ की माँ के हाथ से गुड़ चने की प्लेट पकड़ने के बहाने उनको छूकर भी देखा, डरते-डरते। डरते-डरते इसलिये कि कलुआ की माँ की आग हमें जला न दे और फिर अम्मा हंगामा न कर दें पिछली बार की तरह। मगर कलुआ की माँ में हमें कहीं आग का कोई निशान नहीं दिखा था। उनके हाथ तो बिल्कुल हमारी ही तरह ठंडे थे।

'चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी' में ऐसे कई क़िस्से और रोचक दृश्य हैं , जो समाज और परिवार की मानसिकता पर चोट करते हैं।

लेखक ने एक दृश्य खींचा है, पहले आप उसे पढ़ें , फिर मैं अपनी बात कहूँगी - ''इसी बीच हम लोगों के साथ एक बड़ी शर्मनाक घटना हुई । हालाँकि हम लोगों की नज़रों में वो शर्मनाक घटना न होकर धार्मिक घटना थी, लेकिन, बड़े लोगों का मानना था कि वो अत्यंत शर्मनाक घटना थी। जिसके बाद हम लोग कुछ दिनों तक किसी को मुँह दिखाने के क़ाबिल भी नहीं रहे थे। हुआ दरअसल ये था कि हमारे क़स्बे में कुछ दिनों के लिये साधुओं की एक टोली आई हुई थी। हमें नहीं मालूम कि वो साधु कौन थे, कहाँ से आए थे, किस धर्म के थे, किन्तु, वो साधु पूरी तरह से नग्न रहते थे। एक दो दिन के लिये वो हमारे शहर में आये थे। हम अक्सर स्कूल आते-जाते उनको शहर में घूमते देखते थे। लोग उनकी खूब आवभगत करते थे। आगे-आगे साधु चलते थे और उनके पीछे पीछे उनके भक्तों की टोली जय जय कार करती हुई चलती थी। हमें ये खेल बहुत पसंद आया।

एक दिन संडे को जब हस्पताल का पूरा कैम्पस सूना पड़ा था (वैसे भी हमारे उस छोटे से हस्पताल में मरीज़ आते ही कहाँ थे)। तो हम लोग चुपके से स्टोर रूम के पीछे के बरामदे में इकट्ठे हो गये। ये बरामदा दोपहर बाद सन्नाटे में डूब जाता था। बस वहाँ पर हमने साधु-साधु का खेल शुरू कर दिया। हममें से आधे लोग साधु बन गये (ठीक उन्हीं साधुओं की तरह)और बाक़ी के हम उनके भक्त बन गये। भक्त वही लोग बने थे जिनका ज़मीर उनको साधु बनने की इजाज़त नहीं दे रहा था। वैसे तो हमारी प्लानिंग ये थी कि सभी लोग ही साधु बनेंगे, और इसके लिये सभी सहमत भी थे। लेकिन, कुछ लोगों ने यहाँ बरामदे में आने के बाद हौसला छोड़ दिया और साधु बनने से साफ ही इनकार कर दिया। खेल नहीं बिगड़े इस कारण बहस नहीं करते हुए उनको भक्त बना दिया गया।

साधुओं ने अपने कपड़े उतार कर एक तरफ रख दिये और बरामदे में गंभीरता से

टहलना शुरू कर दिया। क़मर हसन साधुओं का सरदार बना हुआ था। बाक़ी के लोग उनके पीछे पीछे जय जय कार करते हुए भक्तों की तरह घूम रहे थे। भक्त गण पीछे से गुलतेवड़ी, ज़ीनिया और गेंदे फूलों की पंखुड़ियाँ साधुओं पर उछाल रहे थे। अभी हमारा खेल चल ही रहा था कि अचानक कम्पाउण्डर आ गये, उन्होंने हमारे साधुओं को देखा तो ग़ुस्से से चिल्ला पड़े 'क्या हो रहा है ये सब ?'। बात की बात में और लोग भी एकत्र हो गये। हममें से भक्तों का तो कुछ नहीं, लेकिन साधुओं का बुरा हाल था, क्योंकि, साधु तो साधु अवस्था में थे। सारे साधु रो रहे थे और भक्त सिर झुकाए खड़े थे। लेकिन बाद में जब हम सबकी अपने-अपने घरों में पिटाई हुई तो उसमें साधु और भक्तों को समान रूप से मारा गया, उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया गया। हमारे कई सारे सवालों में एक सवाल ये भी बढ़ गया था कि हम ग़लत कहाँ थे, हमने तो साधुओं की नक़ल की थी। जब वे असली साधु लोग इसी प्रकार की अवस्था में शहर में घूम रहे थे तो पूरा का पूरा शहर उनकी जय जय कार, उनका स्वागत कर रहा था और हमने जब वो किया तो हमें सज़ा मिली। हमने तो धार्मिक काम किया था, उसमें ऐसा क्या हो गया कि हमें इस प्रकार जानवरों की तरह मारा गया।

पात्रों ने यह सवाल उठाया है, हम ग़लत कहाँ थे ? अगर साधु नग्न घूम सकते हैं तो बच्चों क्यों नहीं ? बच्चों ने तो साधुओं की नक़ल की थी। हमारे परिवारों और समाज की ऐसी संरचना की गई है कि कभी वे दोहरी मानसिकता को बदलने के बारे में सोचते भी नहीं।

अब ऐसी ही घटना हमारे साथ घटी थी। मैं और मेरे भाई, मामा और मौसी के बेटे; जिनका मेरा एक दो साल का अंतर था, मुश्किल से पाँच और सात साल के भीतर थे हम सब। मैं सबसे छोटी थी। गर्मी की छुट्टियों में सब हमारे यहाँ आते थे। सब इकट्ठे खेलते थे, कभी किसी ने ध्यान नहीं दिया कि सब लड़के हैं और मैं लड़की हूँ। भाइयों के साथ और दोस्त भी इकट्ठे हो जाते थे। एक दिन हम सब बहुत खुश हुए। हमने एक नया खेल मिल गया था। जालंधर के देवी तालाब मंदिर में साधुओं की टोली आई थी, जो नग्न रहते थे। पंजाब में उन्हें नांगा साधु बुलाते हैं। एक दिन वे शहर में घूमे, और जो दृश्य पंकज सुबीर ने अपनी कहानी में दर्शाया है, वैसा ही हमने देखा। उन पर फूलों की वर्षा हो रही थी, लोग हाथ जोड़कर झुक-झुक कर प्रणाम कर रहे थे। अब मेरे भाइयों को यह खेल लगा और उन्होंने अपने बदन पर पाऊडर, गाचनी और मिट्टी मल ली और जैसे नांगे साधु दिखते थे वैसा रूप धारण कर खेलने लगे और मुझे उन पर फूल फेंकने का काम सौंपा गया। अभी खेल शुरू ही हुआ था कि सबके तमाचे पड़ने लगे। यही समझ नहीं आया कि हमारा कसूर क्या है ? हम ग़लत कहाँ थे? नांगे साधु सड़कों पर घूम सकते हैं तो हम अपने घर के पिछवाड़े में वह खेल नहीं खेल सकते। मैं पोलियो सरवाइवल हूँ, ज़्यादा भागदौड़ नहीं कर सकती थी, भाई लोग भी अपने साथ ले जाकर बैठा ही देते थे। पर उस दिन मुझे तो तमाचे नहीं पड़े बस यही सबको महसूस हुआ की लड़की है, अब इसे भाइयों के साथ खेलने न भेजा जाए। लड़कों के खेल तो उलटे-सीधे होते हैं। पर भाइयों को बड़ा गुस्सा था कि मुझे नहीं पीटा गया, मैं भी उनके साथ थी। उन्हें तो दोहरी मार पड़ी थी, बहन साथ थी और वे नंगे होकर खेल रहे थे। हालाँकि सच्चाई यह थी, किसी को कुछ महसूस नहीं हुआ, सब खेल की तैयारी में मग्न थे। खेल तो शुरू ही हुआ था, जब पिटाई शुरू हो गई। बड़े होकर हमने पीटने वालों को शिकायत भी की, पीटने की बजाय हमें समझाना चाहिए था। यह कहानी मेरी ही यादों की कहानी है। इसलिए जब इसे पढ़ा था तभी से मेरी मनपसंद कहानी बन गई है।

'चिरइ चुरमुन और चीनू दीदी' कहानी और भी कई तरह की घटनाओं को चित्रित करती आगे बढ़ती है। चुपके से सामाजिक वर्जनाओं पर कटाक्ष भी कसती जाती है। निस्संकोच यह कहूँगी, पंकज सुबीर की क़िस्सागोई की बेमिसाल कहानी है।

❐❐❐

101, गाईमन कोर्ट, मोरिंस्विल्ल
नॉर्थ कैरोलाइना-27560, यू.एस. ए.
मोबाइल : +1-919-801-0672
ईमेल : sudhadrishti@gmail.com

नई पुस्तक

मैं रुक जाऊँ, तो तुम चलना...

लेखक: डॉ. सुशील सिद्धार्थ
प्रकाशक: शिवना प्रकाशन, सीहोर

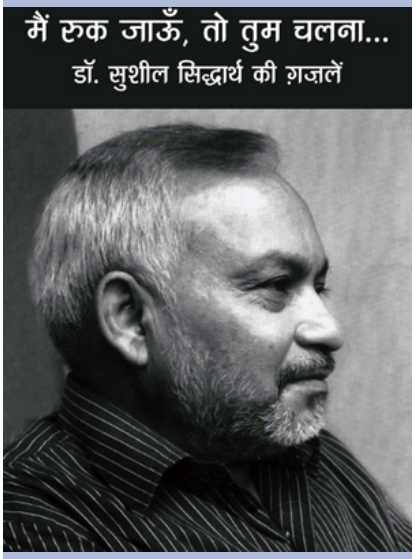

व्यंग्यकार, आलोचक, समीक्षक, संपादक डॉ. सुशील सिद्धार्थ की ग़ज़लों का संग्रह शिवना प्रकाशन से 'मैं रुक जाऊँ, तो तुम चलना...' शीर्षक से प्रकाशित होकर आया है। डॉ. सुशील सिद्धार्थ का यह नया चेहरा इस पुस्तक के द्वारा पाठकों के सामने आया है। उनके असामयिक निधन के कुछ माह पश्चात् आई यह किताब उनके शायर रूप को पाठकों के सामने लाती है। इस पुस्तक में उनकी 68 ग़ज़लें तथा दो नज़्में हैं। ग़ज़लें हिन्दी की दुष्यंत परंपरा पर कही गई ग़ज़लें हैं, जिनमें समय और समाज को लेकर बेचैन कर देने वाली प्रश्नाकुलता है। ये ग़ज़लें अत्यंत तीखे तेवरों के साथ कही गई हैं। पारंपरिक ग़ज़लें जिन विषयों को छूने से परहेज़ करती हैं, ये ग़ज़लें उन सब विषयों को छूती हैं, उन पर बातें करती हैं। दुष्यंत से लेकर अदम गोंडवी तक जो आम आदमी ग़ज़लों में हमेशा केन्द्र में रहा, डॉ. सुशील सिद्धार्थ की ग़ज़लों में भी वह मुख्य रूप से विद्यमान है। अस्सी पेज की यह पुस्तक मात्र सौ रुपये की है और सभी ऑनलाइन शॉपिंग साइट्स पर उपलब्ध है।

❐❐❐

फ़िल्म समीक्षा

बधाई हो

समीक्षक : वीरेन्द्र जैन
निर्देशक: अमित रविन्द्रनाथ शर्मा
निर्माण : जंगली पिक्चर्स

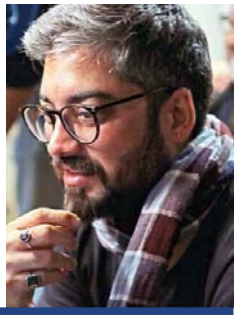

टीवी इंटरनैट के आने से पहले कॉलेज के दिनों में जब अंग्रेज़ी फ़िल्में देखने का फैशन चलन में था, तब तीन घंटे की फ़िल्म के अभ्यस्त हम लोगों को दो घंटे की फ़िल्म देख कर कुछ कमी सी महसूस होती थी, पर अब नहीं लगता क्योंकि बहुत सारी हिन्दी फ़िल्में भी तीन घंटे से घट कर दो सवा दो घंटे में खत्म हो जाती हैं। पहले फ़िल्में उपन्यासों पर बना करती थीं अब कहानियों या घटनाओं पर बनती हैं और उनमें कई कथाओं का गुम्फन नहीं होता। पिछले कुछ दिनों से इसी समय सीमा में किसी विषय विशेष पर केन्द्रित उद्देश्यपरक फ़िल्में बनने लगी हैं। कुशल निर्देशक उस एक घटनापरक फ़िल्म में भी बहुत सारे आयामों को छू लेता है। अमित रवीन्द्रनाथ शर्मा के निर्देशन में बनी 'बधाई हो' इसी शृंखला की एक और अच्छी फ़िल्म है।

यौन सम्बन्धों के मामले में हम बहुत दोहरे चरित्र के समाज में रह रहे हैं। वैसे तो सुरक्षा की दृष्टि से सभी गैर पालतू प्रमुख जानवर यौन सम्बन्धों के समय एकांत पसन्द करते हैं और सारी दुनिया की मनुष्य जाति में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है पर हमारी संस्कृति में ब्रम्हचर्य को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि पति-पत्नी के बीच के यौन सम्बन्धों को स्वीकारने में भी पाप बोध की झलक मिलती है। भले ही विवाह के बाद पूरा परिवार शिशु की प्रतीक्षा करने लगता है, दूधों नहाओ पूतों फलो के आशीर्वाद दिए जाते रहे हैं जिसके लिए यौन सम्बन्धों से होकर गुज़रना होता है, किंतु उसकी समस्याओं पर सार्वजनिक चर्चा नहीं की जा सकती। पैडमैन फ़िल्म बताती है कि यौन से सम्बन्धित सुरक्षा सामग्री भी अश्लीलता समझी जाती रही है। प्रौढ़ उम्र में गर्भधारण इसी कारण समाज में उपहास का आधार बनता है भले ही यौन सम्बन्धों की उम्र दैहिक स्वास्थ के अनुसार दूर तक जाती हो।

यह संक्रमण काल है और हम धीरे-धीरे एक युग से दूसरे युग में प्रवेश कर रहे हैं। यह संक्रमण काल देश की सभ्यता, नैतिकिता, और अर्थ व्यवस्था में भी चल रहा है। हमारा समाज आधा तीतर आधा बटेर की स्थिति में चल रहा है। फ़िल्म का कथानक इसी काल की विसंगतियों से जन्म लेता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश का मूल निवासी कथा नायक (गजराव राव) रेलवे विभाग में टीसी या गार्ड जैसी नौकरी करता है, व दिल्ली की मध्यम वर्गीय कालोनी में रहता है, जहाँ पुरानी कार सड़क पर ही पार्क करना पड़ती है। दिल्ली में बढ़े हुए उसके लगभग 20 और 16 वर्ष के दो बेटे हैं। उसकी माँ (सुरेखा सीकरी) भी उसी छोटे से फ्लैट में उसके साथ रहती है और कमरे की सिटकनी बन्द करने की आवाज़ तक महसूस कर लेती है। वह परम्परागत सास की तरह बहू (नीना गुप्ता) को ताना मारते रहने में खुश रहती है। कविता लिखने का शौकीन भला भोला मितव्ययी कथा नायक भावुक क्षणों में भूल कर जाता है और लम्बे अंतराल के बाद उसकी पत्नी फिर गर्भवती हो जाती है जिसका बहुत समय बीतने के बाद पता लगता है। वह गर्भपात के लिए सहमत नहीं होती।

उसका बड़ा बेटा (आयुष्मान खुराना) भी किसी कार्पोरेट ऑफिस में काम करता है व उसका प्रेम सम्बन्ध अपने साथ काम करने वाली एक लड़की (सान्या मल्होत्रा) से चल रहा होता है। लड़के के परिवार के विपरीत माँ (शीबा चड्ढा) के संरक्षण में पली बढ़ी पिता विहीन लड़की अपेक्षाकृत सम्पन्न मध्यमवर्गीय परिवार से है व उनके रहन सहन में अंतर है। लड़की की माँ आधुनिक विचारों की है तदानुसार लड़की अपना मित्र व जीवन साथी चुनने के लिए स्वतंत्र है। वे साझे वाहन से कार्यालय जाते हैं, और अवसर मिलने पर दैहिक सम्बन्ध बना लेने को भी अनैतिक नहीं मानते।

लड़के की माँ के गर्भधारण के साथ ही उसके परिवार में व्याप्त हो चुका अपराधबोध सबको गिरफ्त में ले लेता है। पड़ोसियों की मुस्कराती निगाह और तानों में सब उपहास के पात्र बनते हैं और इसी को छुपाने के क्रम में लड़का और लड़की के बीच तनाव व्याप्त हो जाता है, जो दोनों के बीच एकांत मिलन का अवसर मिलने के बाद तब टूटता है, जब वह लड़का अपनी चिंताओं के कारण को स्पष्ट करता है। लड़की के लिए यह हँसने की बात है किंतु लड़के के लिए यह शर्म की बात है।

जब लड़की अपनी माँ को सच बताती है तो माँ अपनी व्यवहारिक दृष्टि से सोचते हुए कहती है कि रिटायरमेंट के करीब आ चुके लड़के के पिता की नई संतान का बोझ अंततः उसे ही उठाना पड़ेगा। लड़का यह बात सुन लेता है और गुस्से में उन्हें कठोर बातें सुना देता है, जिससे आहत लड़की से उसका मनमुटाव हो जाता है। इसी बीच लड़के की बुआ के घर में शादी आ जाती है जिसमें शर्मिन्दगी के मारे दोनों लड़के जाने से मना कर देते हैं। उनके माँ बाप और दादी जब वहाँ जाते हैं तो सारे मेहमान भी उन्हीं की

तरफ उपहास की दृष्टि से देखते हैं। यह बात दादी को अखर जाती है और वह गुस्से में अपनी बेटी और बड़ी बहू को लताड़ते हुए कहती है कि जिन संस्कारों को भूलने की बात कर रहे हो उनमें वृद्ध माँ-बाप की सेवा करना भी है जो कथा नायिका गर्भवती बहू को तो याद है पर उपहास करने वाले भूल गए हैं, जो कभी भूले भटके भी उससे मिलने नहीं आते। बीमार होने पर इसी बहू ने उनको बिस्तर पर शौच कर्म कराया है जब कि वे लोग देखने तक नहीं आए। वह विदा होती नातिन के यह कहने पर कि वह अमेरिका जाकर नानी को फ़ोन करेगी, कहती है कि उसने मेरठ से दिल्ली तक तो फ़ोन कभी किया नहीं अमेरिका से क्या करेगी। इसे सुन कर एक पुरानी फ़िल्म 'खानदान' में भाई-भाई के प्रेम के लिए रामायण को आदर्श बताने वाले नायक के आदर्श वाक्य का उत्तर देते हुए का प्राण द्वारा बोला गया वह डायलाग याद आता है, जब वह कहता है 'कौन सी रामायण पढ़ी है तुमने? हमारी रामायण में तो यह लिखा हुआ है कि बाली को उसके सगे भाई सुग्रीव ने मरवा दिया और रावण को उसके सगे भाई विभीषण ने'।

अंग्रेज़ी में कहावत है कि मोरलिटी डिफर्स फ्रॉम प्लेस टु प्लेस एंड एज टु एज। लगता है इसके साथ यह भी जोड़ लेना चहिए कि क्लास टु क्लास।

लड़के की माँ को जब पता लगता है कि उसके कारण उसका उसकी गर्ल फ्रेंड से मनमुटाव हो गया है तो वह लड़के को गोद भराई का कार्ड देने के बहाने भेजती है और लड़की की माँ से माफी माँगने की सलाह देती है। यही बात उनके मन का मैल दूर कर देती है। और एक घटनाक्रम के साथ फ़िल्म समाप्त होती है।

इस मौलिक कहानी को बुनने और रचने में पर्याप्त मेहनत की गई है व पश्चिमी उत्तर प्रदेश की स्थानीयता और दिल्ली की आधुनिकता के बीच की विसंगतियों को सफलता से उकेरा गया है। पान की दुकान को युवा क्लब बनाए रखने, घर में अपनी बोली में बोलने, पड़ोसियों द्वारा ताक झाँक करने व दूसरी ओर आधुनिक परिवार में माँ बेटी का एक साथ ड्रिंक करना पार्टियाँ देना आदि बहुत स्वाभाविक ढंग से व्यक्त हुआ है। सारी शूटिंग स्पाट पर की गई है और डायलॉग में व्यंग्य डाला गया है, जिसका एक उदाहरण है कि जब माँ के गर्भवती होने पर हँसती हुई लड़की से नाराज़ लड़का कहता है कि अगर ऐसी ही स्थिति तुम्हारी माँ के साथ हुई होती तो तुम्हें कैसा लगता। लड़की कहती है, तब तो बहुत बुरा लगता। .....क्योंकि मेरे पिता नहीं हैं। चुस्त कहानी और पटकथा लेखन के लिए अक्षर घिल्डियाल, शांतुन श्रीवास्तव, और ज्योति कपूर बधाई के पात्र हैं। फ़िल्म की व्यावसायिक सफलता ऐसी फ़िल्मों को आगे प्रोत्साहित करेगी जो बदलते समय के समानांतर सामाजिक मूल्यों में बदलाव को मान्यता दिलाती हैं।

❐❐❐

2/1 शालीमार स्टर्लिंग, रायसेन रोड,
अप्सरा टाकीज के पास भोपाल (म.प्र.)
462023, मोबाइल: 09425674629
ईमेल : j_virendra@yahoo.com

शिवना साहित्यिकी सदस्यता प्रपत्र

यदि आप शिवना साहित्यिकी की सदस्यता लेना चाहते हैं, तो सदस्यता शुल्क इस प्रकार है : 200 रुपये (एक वर्ष), 400 रुपये (दो वर्ष), 1000 रुपये (पाँच वर्ष), 3000 रुपये (आजीवन)। सदस्यता शुल्क आप चैक / ड्राफ़्ट द्वारा शिवना साहित्यिकी (SHIVNA SAHITYIKI) के नाम से भेज सकते हैं। आप सदस्यता शुल्क को शिवना साहित्यिकी के बैंक खाते में भी जमा कर सकते हैं, बैंक खाते का विवरण इस प्रकार है :

Name of Account : **Shivna Sahityiki**, Account Number : **30010200000313**, Type : **Current Account**, Bank : **Bank Of Baroda**, Branch : **Sehore (M.P.)**, IFSC Code : **BARB0SEHORE** (Fifth Character is "Zero")
(विशेष रूप से ध्यान दें कि आई. एफ. एस. सी. कोड में पाँचवा कैरेक्टर अंग्रेज़ी का अक्षर 'ओ' नहीं है बल्कि अंक 'ज़ीरो' है।)
सदस्यता शुल्क के साथ नीचे दिये गए विवरण अनुसार जानकारी ईमेल अथवा डाक से हमें भेजें जिससे आपको पत्रिका भेजी जा सके:

नाम :_____ **डाक का पता :**_____

_____ **सदस्यता शुल्क :**_____ **चैक / ड्राफ़्ट नंबर :**_____

ट्रांज़ेक्शन कोड (यदि ऑनलाइन ट्रांसफ़र किया है) :_____ **दिनांक :**_____

(यदि सदस्यता शुल्क बैंक खाते में नकद जमा किया है तो बैंक की जमा रसीद डाक से अथवा स्कैन करके ईमेल द्वारा प्रेषित करें।)

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय : पी. सी. लैब, शॉप नंबर. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001, दूरभाष : 07562405545
मोबाइल : 09806162184 (शहरयार अमजद ख़ान), ईमेल : shivnasahityiki@gmail.com

पुस्तक समीक्षा

राग मारवा

समीक्षक : अंकित नरवाल

लेखक : ममता सिंह

प्रकाशक : राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली

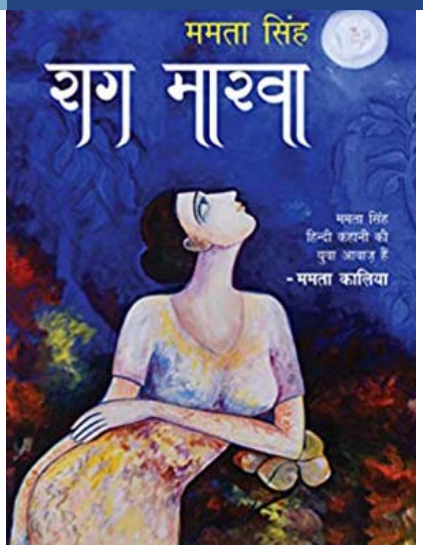

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत इधर के वर्षों में कथा ने एक नयी ऊर्जा का परिचय दिया है। अब वह अपने सामयिक संदर्भों पर जरा ठहर कर विचार करने और विद्रूपताओं के विरुद्ध एक सही ढंग का मानसिक माहौल तैयार करने की दिशा में अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में ज्यादा परिपक्वता के साथ सामने आयी है। वह कवितामयी शब्दावली के आकर्षण को पीछे छोड़ अपने कहन में वैचारिकता के और नज़दीक पहुँची है। कथा में भी जहाँ तक कहानी का प्रश्न है, अब वह और ज्यादा तल्ख़ी लिए हुए हमारे बीच मौजूद है।

इस नई पीढ़ी में ममता सिंह भी एक ऐसी ही युवा कहानीकार हैं, जिनके यहाँ कथा के विकास की यह परिपाटी पूरी संभावनाओं के साथ दर्ज है। वे अपने 'लोकेल' को बहुत नज़दीक से परखती हैं। उनके यहाँ किन्हीं दूरगामी क़िस्सों को पकड़ने की भाग-दौड़ नहीं है, बल्कि अपने आसपास के जीवन की ही कतरनें बहुत मार्मिकता से बयाँ होती हैं। उनके यहाँ स्त्रियों के सहज स्वप्न, साम्प्रदायिकता को उपजाते निजी हित-साधक गिरहों की पड़ताल और बाल-मनोविज्ञान की आभा के अनेक कोण सहज ही दिखाई देते हैं।

दरअसल, यह एक ऐसा लोक है, जो रूढ़ियों में लिपटे अपने अतीत से भी टकरा रहा है और तेज़ रफ़्तार भरी नई पीढ़ी को लेकर भी पसोपेश में है। इनमें स्त्री द्वारा अपनी सहज मानवीय स्वतंत्रता के लिए लड़ाई भी है और 'लिव-इन-रिलेशनशिप' जैसे उत्तर आधुनिक पारिवारिक नुस्खों के प्रति एक स्त्री-मन की अंतरंग गाँठों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी। यहाँ आई ये स्त्रियाँ उन चुनौतियों के प्रति भी सचेत हैं, जिनसे उन्हें अपने निर्माण की ज़िम्मेदारी के रास्तों पर चलते हुए दो-चार होना है।

ममता सिंह का हाल ही में प्रकाशित कहानी-संग्रह 'राग मारवा' उनकी इसी वैचारिकता को सामने लाता है। 'राग मारवा', 'गुलाबी दुपट्टे वाली लड़की', 'जनरल टिकट', 'फैमिली ट्री', 'आवाज़ में पड़ गई दरारें', 'धुँध', 'आसमानी काग़ज़', 'सुरमई', 'विदाई', 'पानी पे लिखा ख़ामोश अफ़साना' और 'आख़िरी कॉन्ट्रैक्ट' नामक कुल बारह कहानियों से संग्रहित यह संग्रह विकास की अंधी दौड़ में शामिल समाज के भीतर की दरारों पर उँगली रखने का काम करता है। यह मनुष्य के 'अर्थ' में तब्दील होने तथा रिश्तों में 'देह' के बलवती होते जाने की मानसिकता के विरुद्ध एक प्रतिरोध की तरह हमारे सामने आता है।

उनकी 'राग मारवा' कहानी का कथानक कुसुम जिज्जी नामक एक गायिका की जीवन-गाथा का है। वह वृद्धावस्था में भी अपनी गायकी के सहारे परिवार का पालन-पोषण कर रही है। हालाँकि, उसके गाने की स्थिति में न होने के बावजूद भी उसकी बहू पारुल उसके लिए कॉन्ट्रैक्ट का प्रबन्ध करती रहती है और उसे चिरौरी करके मना भी लेती है। अंततः कुसुम अपनी इस गायकी के सहारे एक घर खरीदने की स्थिति में तो आ जाती है, किंतु सुकून का एक कोना तक उसे नसीब नहीं हो पाता। जहाँ इस घर-प्रवेश की पार्टी के समय उसकी बहू नए कॉन्ट्रैक्ट की जुगत भिड़ा रही है, वहीं कुसुम जिज्जी एक कोने में भूख से बिलबिला रही है।

यह दृश्य हिंदी की कालजयी कहानियों- 'बूढ़ी काकी' व 'चीफ की दावत' को पुनः स्मृत कराता है। यह सहज ही इस बात की ओर ध्यान ले जाता है कि अर्थ के पीछे भागते इस वर्तमान में वृद्ध अब स्टोर के समान के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गए हैं। जिनसे एकमुश्त लाभ तो लिया जा सकता है, किंतु उन्हें बेशकीमती समझकर सहेजा नहीं जा सकता। कहानी में कुसुम की मानसिक यंत्रणा यही सिद्ध करती है,-

''मैं अपने ही कोख-जने बेटे और बहू पर बोझ बन गई हूँ। ये मेरी लाचारी का फायदा उठाते हैं। मेरे दुख, मेरी पीड़ा उन्हें दिखायी नहीं देती। इन लोगों को मुझसे सिर्फ पैसों का सरोकार है। शायद मैं जिस दिन पैसों का जरिया न रहूँ, उस दिन ये लोग मुझे निकाल फेंकेंगे घर से। इस घर में मेरी रोज़मर्रा की ज़रूरतें तक पूरी नहीं की जातीं। चश्मे की डंडी टूटी है...पारुल मेरा तानपुरा टूटा है...तुमने मेरे ब्लाउज़ की तुरपाई भी नहीं की।''(पृष्ठ-16-17)

ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं, जो यह बताते हैं कि वह जब तक परिवार के लिए कमाई का उपकरण है, तभी तक उसकी उपयोगिता है। अन्यथा वह भी टूटे तानपूरे के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस कहानी के अंत में उसका अस्पताल की चारपाई पर लेटे हुए अपनी बहू के इन कथनों की सुनना कि आप इन्हें जैसी भी हो जल्दी डिस्चार्ज करिए, उसके दर्द को और भी अधिक बढ़ा देता है।

'गुलाबी दुपट्टे वाली लड़की' नामक कहानी को उत्तर आधुनिक समाज की शिनाख़्तगी की तरह भी पढ़ा जा सकता है। इसका कथानक गिन्नी नामक एक नेपाली लड़की के जीवन के इर्द-गिर्द बुना गया है। वह कथा-वाचिका के यहाँ 'मेड' का काम करती है और अपनी कुशलता के चलते पारिवारिक सदस्य जैसी हो जाती है। वह माँ बनने की कसक लिए इस दिल्ली शहर में आई है। वह आई.वी.एफ. के जरिये अपना इलाज भी कराती है, किंतु उसे सफलता नहीं मिलती। अंततः अपनी इसी निराशा से उबरने के लिए वह अपने गर्भाशय को अपने जैसी दूसरी औरतों के लिए एक प्रयोगशाला में तब्दील कर देती है। वह इसी के बरास्ते अपना भरण-पोषण भी करने लगती है। यह कथानक पढ़ते हुए स्त्री-स्वतंत्रता के कुछ वाजिब सवालों की एक लंबी कतार हमारे सामने उभरती चली जाती है। इनमें प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या स्त्री केवल एक प्रजनन की प्रयोगशाला भर है? या इससे इतर भी उसके अस्तित्व का कोई मूल्य है। क्या उसकी संपूर्ण उपयोगिता केवल बच्चे पैदा कर सकने के उपयोग पर ही टिकी है? इसे पढ़ते हुए गरिमा श्रीवास्तव की यात्रा-डायरी 'देह ही देश' याद हो आती है, जो इस बात को सही ढंग से सामने लाती है कि सरहदें बदलने पर भी स्त्री की देह मात्र एक देह ही रहती है, जिसे समाज ने अपनी सुविधानुसार ढालने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। इस कहानी में गिन्नी भी नेपाली स्त्रियों का वर्णन करते हुए इसी तथ्य को सामने लाती है, -

''उसके गाँव में स्त्रियाँ सेनीटरी पैड के बारे में जानती भी नहीं हैं। आज भी चूल्हे की राख कपड़े में लपेटकर उसे पैड की तरह इस्तेमाल करती हैं। दरअसल हर स्त्री गृहस्थी की खूबसूरत मशीन है। ओखली में धान कूटने से लेकर बर्तन माँजकर उसे सजाने तक, तकिए की गिलाफ़ पर फूल काढ़ने से लेकर घरवालों की ज़िन्दगी सँवारकर, लिखने-पढ़ने तक हर काम में स्त्रियाँ ट्रेंड कर दी जाती हैं। कुशलता से हर काम की ट्रेनिंग के दौरान स्त्री ज़िन्दगी की वेदी पर खुद ही अपनी समिधा बनती है।''(पृष्ठ-26)

कहानी 'जनरल टिकट' दिव्या नामक एक युवा लड़की के सहारे सामंती पितृसत्तात्मक संरचना में शोषण झेलती एक पूरी पीढ़ी के स्वर को सामने लाने वाली कहानी है। कहानी में दिव्या का परिवार उत्तरप्रदेश के एक ग्रामीण अंचल से निकल कर मुम्बई के एक 'टावर' में तो आ गया है, किंतु उसकी मानसिकता नितांत धुर अंध-पितृसत्तात्मक ही बनी हुई है। दिव्या जो पढ़कर यूनीवर्सिटी तक चली आई है, ऐसे परिवार में अपनी पसंद के कपड़े तक पहनने के लिए स्वतंत्र नहीं है। वह फिल्मों में काम करना चाहती है, किंतु इस तथाकथित खानदानी परिवार में तो उसका इस विषय में सोचना तक वर्जित है। हालाँकि, वह अपने कॉलेज में साइबर क्राइम पर एक डॉक्यूमेंट्री बनाती है, जिसे इन्टरटेन्मेंट चैनल पर प्रसारण के लिए अनुमति मिल जाती है, किंतु वह अपनी इस खुशी को परिवार के बाँट नहीं सकती। उसके परिवार की दृष्टि में लड़कियों का केवल एक ही काम होता है, वे कोर्स पूरा करें और अपनी गृहस्थी बसाएँ। इस परिवार में उसको पशु की तरह नियंत्रित करने की एक पूरी नियमावली है,-

''यह ड्रेस मत पहनो। स्लीव-लेस नहीं चलेगा। शॉर्ट्स, मिनी स्कर्ट पहनना तो अलाउड ही नहीं था।...किसी लड़के से मेलजोल नहीं करना, हाथ नहीं मिलाना, किसी की बाइक पर लिफ्ट नहीं लेना...जैसी नसीहतों की घुट्टी रोज़ पिलायी जाती थीं।''(पृष्ठ-43)

दरअसल, हमारे आसपास पसरा यह वह समाज है, जिसकी समस्त खानदानी तवज्जो केवल विवाह तक अपनी यौन-शुचिता को निभाने पर सिमटी हुई है। यह एक ऐसी मानसिकता में जीने वाला समुदाय है, जो मानता है कि दो युवा स्त्री-पुरुषों का संपर्क केवल जिस्मानी ही होता है। ज़ेहनी संपर्क का सारा गणित इनके शब्दकोश में केवल एक छल-भर ही है। यही समुदाय बाद में कहीं खाप बनाकर नियमावली तय करता है और कहीं 'ऐंटी रोमियो स्क्वॉड' तक चला आता है। इसका उद्देश्य सभी जगह यही होता है कि स्त्री को अपने अनुसार कैसे संचालित किया जाए। यह कहानी इस उद्देश्य की न केवल मार्मिक पड़ताल ही करती है, बल्कि इसके विरोध में दिव्या जैसी एक सशक्त पात्र का विकल्प भी सुझाती है।

'फैमिली ट्री' नामक कहानी रोज़गार की आपाधापी में खपते एकल परिवारों की दशा से रू-ब-रू होने का अवसर उपलब्ध कराती है। इस कहानी में श्रेया और अमन दोनों ही नौकरीशुदा दंपति हैं, जो ऑफिस में जाते समय अपने बेटे मनु को पास ही चलने वाले 'बेबी सिटिंग' में छोड़कर चले जाते हैं। एक दिन भारी बारिश के कारण सारी यातायात सुविधाएँ ठप हो जाती हैं और वे दोनों ही घर वापस नहीं लौट पाते। इसके चलते मनु को 'बेबी सिटिंग' में ही सारी रात गुज़ारनी पड़ती है, किंतु वह सुबह जल्दी उठकर अपने घर के दरवाज़े पर चला जाता है। सुबह बाकी सभी व्यक्तियों को लगता है कि वह गुम हो गया है। श्रेया व अमन यह जानकर काफी परेशान हो जाते हैं और उन्हें अपने बेटे की सभी बाल-सुलभ क्रियाएँ याद आने लगती हैं। मनु को ढूँढ़ते हुए अंततः जब वे अपने घर पहुँचते हैं, तो उन्हें वह मिल जाता है।

यह संपूर्ण कहानी बहुत मार्मिक वर्णन के सहारे इस प्रश्न तक पहुँचती है कि कहीं हमारे और अधिक आधुनिक होते जाने की भागदौड़, हमारी नई पीढ़ी की परवरिश के मूल्य के साथ खिलवाड़ तो नहीं कर रही है? आज शहरों में संयुक्त परिवार भले ही आउटडेटेड का परिचायक माने जाने लगे हों, किन्तु क्या वे ही हमारी परवरिश का बुनियादी स्रोत नहीं रहे हैं? इस फैशन के चलते कॉन्वेंट के पढ़े बच्चे अपने दादा-दादी तक का नाम भी सही से नहीं बता पाते। इसी के चलते आज बच्चों को पारिवारिक रिश्तों तक का ज्ञान स्कूल में सिलेबस के सहारे कराना पड़ रहा है, जबकि कुछ दशक पूर्व तक यह हमारे निजी जीवन का एक बुनियादी हिस्सा हुआ करता था। इस कहानी में श्रेया के यह कथन इसी बेचैनी को दर्शाते हैं,-

''मनु को कैसे समझाएँ कि हमारे बचपन के दिनों में नौकरी मजबूरी नहीं थी। उन दिनों सपने छोटे, वक्त और ज़िन्दगी सरल हुआ करती थी। अपने शहरों में भरे-पूरे परिवार और पास-पड़ोस में बच्चे कब बड़े होते थे, पता ही नहीं चलता था। तब बेबी सिटिंग का चलन नहीं था। अब स्कूल में रिश्तों को समझाने के लिए फैमिली ट्री

बनवाया जाता है। हमने फैमिली ट्री को ज़िंदा शाखाओं में जिया है।'' (पृष्ठ-69)

'आवाज़ में पड़ गई दरारें' लिव-इन-रिलेशनशिप जैसे उत्तर आधुनिक संबंधों व प्रेम को आर्थिक सफलता की सीढ़ी समझने वाली प्रवृत्ति का उद्घाटन करने वाली एक सशक्त कहानी कही जा सकती है। कहानी में सनोबर, शारव के प्रेम में मुम्बई तक चली आई है और एक अध्यापिका की नौकरी करते हुए रेडियो उद्घोषिका बनने के अपने सपने के लिए प्रयासरत है। वह शारव से विवाह करने के लिए पिछले तीन वर्षों से इंतज़ार में है। दूसरी ओर शारव अपनी डांस अकादमी को सफलता के चरम पर पहुँचाने के लिए संघर्षरत है। वह बीच-बीच में सनोबर से लिव-इन में रहने के लिए कहता है, किंतु सनोबर मना कर देती है। शारव अपनी अकादमी की एक नर्तकी मीनाक्षी के प्रति मोहित है, जो सनोबर के विपरीत उसके लिए भारी बजट का एक अवसर हो सकती है। सनोबर को लगता रहता है कि शारव के लिए वह केवल एक सीढ़ी भर है, कोई सहयात्री नहीं है। कहानी के अंत में जब उसे लंदन में कोर्स करने का अवसर मिलता है, तब उसका यह शक सही साबित होता है और शारव उसका मनोबल बढ़ाने की बजाय उसे वहाँ जाने से मना करता है। कहानी में अंततः सनोबर उसे मीनाक्षी के साथ छोड़कर अपने सपनों की उड़ान पर निकल पड़ती है।

इस सारे कथानक के सहारे यह कहानी स्त्री के प्रति पुरुष की उसी मानसिकता को चिह्नित करती है, जिसके चलते वह उसका सहयोगी न बनकर, नियामक बनना चाहता है। उसके लिए लिव-इन एक 'फन' हो सकता है, किंतु स्त्री के लिए वह कोई सहज समझौता नहीं है। सनोबर का यह कथन भी इसे ही अभिव्यक्त करता है,-

''एक पुरुष के लिए स्त्री रूपी नदी में डूब जाना अमूमन प्यार की गहराई है। उसी में वो अपनी संपूर्णता समझता है। जबकि एक स्त्री के मन की सीपी के भीतर छिपा हुआ मन होता है, उस मन में अपने मन के तार को जोड़ना। स्वेटर के फंदों की महीन-गझिन बुनावट की तरह रफ्ता-रफ्ता बुनती है अपना प्यार। लिव-इन रिश्तों की सीवन जब उधड़ती है तो बहुत बदरंग और बेजान हो जाता है। डर के मारे कदम ठिठक जाते हैं-कहीं इस चमक के पार अँधेरे और टूटन की सीलन भरी कोठरी न हो।''(पृष्ठ-75)

कहानी 'धुँध' का 'लोकेल' मुम्बई का है, जहाँ पारिवारिक रिश्तों पर अर्थ-प्रदर्शन की एक गहरी धुँध छायी हुई है। कहानी में क्षिप्रा और अनय अपने माता-पिता की सालगिरह मनाने के लिए अपने सारे परिवार को घर पर आमंत्रित करते हैं, किंतु पारिवारिक सदस्यों द्वारा घर में पार्टी मनाने की अपेक्षा एक होटल में केक कटवाया जाता है, जिसके चलते उनके समस्त आयोजन पर पानी फिर जाता है। इस माया नगरी में रिश्तों के प्रति उनकी संवेदनशीलता आउटडेटेड करार दे दी जाती है और वे अपने आर्द्र नेत्रों के साथ ठगे से रह जाते हैं। कहानी में यह वर्णन कुछ सवालों के विषय में हमें संजीदा करता है। मसलन, क्या रिश्तों के बीच की गरमाहट अब केवल अर्थ-प्रदर्शन से ही बनाए रखी जा सकती है, या सहज अपनत्व के सहारे? यह कहानी इसी मूल प्रश्न को उभारकर समाप्त होती है।

'आसमानी काग़ज़' नामक कहानी स्त्री के प्रति निर्धारित की गई छवियों को चुनौती देने वाली कथा की तरह सामने आती है। कहानी का सारा प्लॉट रोहित की डायरी के इर्द-गिर्द घूमता है, जिसे वह नित्य-कर्म की तरह लिखता रहा है। वह बताता है कि एक ऑफिस में काम करते हुए वह तनीषा नामक लड़की के प्रति आकर्षित होता है और फिर यही आकर्षण प्रेम में ढलता चला जाता है। वह तनीषा के सामने विवाह का प्रस्ताव भी रखता है, किन्तु वह उसे नकार देती है। दरअसल, उसके नकार पर ही यह सारी कहानी केन्द्रित मानी जा सकती है। वह कहती है, -

''एक तलाक़शुदा औरत को ब्याहकर अपने घर ले जाओगे तो क्या वह रिस्पेक्ट मुझे मिलेगी। सबसे अहम सवाल यह है कि यह सब जानने के बाद भी क्या तुम मुझसे प्यार करोगे?''(पृष्ठ-115)

यह केवल एक सवाल-भर नहीं है, अपितु उस सामाजिक संरचना के प्रति गहरी खीज है, जो यौन-शुचिता की महिमा का इतना गुणगान करती है कि उसके बाद दूसरी तमाम चीज़ें अपना अर्थ विस्मृत कर देती हैं। क्या तलाक केवल एक रिश्ते में कुढ़ते रहने की बजाय उससे निजात पाने का उपाय नहीं है? जैसे दूसरे सवाल भी यह कहानी पाठकों के मन में छोड़ जाती है।

'विदाई' और 'पानी पे लिखा ख़ामोश अफ़साना' नामक कहानियाँ पारिवारिक संबंधों में लगातार बढ़ती जा रही दूरियों को विश्लेषित करती हैं। कहानी 'विदाई' में जहाँ विधवा होने पर ऋचा अपने ही भाई के घर में बोझ बन गई है, वहीं दूसरी कहानी में पति-पत्नी के आपसी रिश्ते की दूरियों ने पत्नी को आत्महत्या तक के लिए मजबूर कर दिया था।

'आखिरी कॉन्ट्रैक्ट' नामक कहानी इस संग्रह की सबसे मारक कहानी कही जा सकती है। यह कहानी इसे समझने में हमारी मदद करती है कि किस प्रकार एक हिन्दू लड़की का मुस्लिम लड़के से प्रेम-विवाह करना साम्प्रदायिक माहौल के चलते एक खास वर्ग द्वारा लव-जिहाद में तब्दील कर दिया जाता है। कहानी में शुभांगी, आफ़ताब से विवाह तो कर लेती है, किंतु उसे किराये के घर तक के लिए मारे-मारे फिरना पड़ता है। वह मुम्बई के लगभग सभी इलाकों में घर बदलते-बदलते थक जाती है, किंतु चैन की साँस उसे कहीं नहीं मिलती। उसे कहीं हिन्दू होने की वजह से घर छोड़ना पड़ता है, कहीं मुस्लिम दंपत्तियों की तरह बुर्का न पहनने से। भिवंडी, ठाने, बहरामपाड़ा व कानपुर आदि में हुए साम्प्रदायिक दंगे आदि भी इस कहानी के सहारे जीवित हो उठते हैं।

संक्षेप में इस संग्रह के संबंध में यह कहा जा सकता है कि ये कहानियाँ सहज मानवीय संबंधों में आती जा रही दरारों की शिनाख़्त करने और उनकी वजहों को तलाशने में हमारी मदद करती हैं। ये कहानियाँ हमें इस विषय में सोचने के लिए तैयार करती हैं कि कहीं हम अर्थोपार्जन के पीछे इतने विस्मृत न हो जाएँ कि अपने निर्माण की सुदीर्घ परंपरा से ही हाथ धो बैठें।

❑❑❑

198, सेक्टर -7, पंचकूला, हरियाणा, 134109
ईमेल : ankitnarwal1979@gmail.com

पुस्तक समीक्षा

ख़ुद से जिरह

समीक्षक : जीवन सिंह ठाकुर

लेखक : विनोद डेविड

प्रकाशक : शिवना प्रकाशन, सीहोर, मप्र

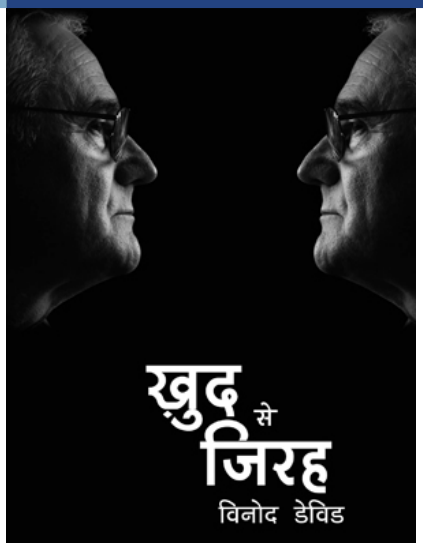

यह आकस्मिक नहीं कि विनोद डेविड, अर्थशास्त्र के अनुशासन से गहरे जुड़े रहने के बावजूद दर्शन और समकालीन साहित्य के एक गंभीर अध्येता रहे हैं। हालाँकि, वे अपनी नैसर्गिक-प्रकृति में एकान्त के वासी ही रहे हैं - लेकिन, अपने उस एकान्त में उन्होंने स्वयम् को सृजन की निरन्तरता से नाथे रखा। आपातकाल के दौर में उन्होंने अभिव्यक्ति के संकट को व्यक्त करने वाली, एक लम्बी कविता, 'बाँझ-रात' लिखी थी, जो लगभग 'अंधेरे में' की तरह की एक फन्तासी ही थी और उसका 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' के राजेन्द्र गुप्त ने मंचन भी किया था। लेकिन, हिन्दी में, जैसा कि चलन है, उन्हीं कृतियों को सिर आँखों पर लिया जाता रहा है, जिसे समीक्षा के किसी अधिपति ने अभिषेकित कर दिया हो।

विनोद डेविड ने इसको लेकर कभी कोई क्षोभ प्रकट नहीं किया और अपने ढंग से कविता-कर्म करते रहे। पिछले दिनों प्रभु जोशी के आग्रह पर उन्होंने अपनी कविताएँ ढूँढ-ढाँढ कर प्रकाशन के लिए दीं और इस बात को जानते हुए कि हिन्दी कविता अपनी वैचारिक-अतियों से मुक्त नहीं हो पाई है। वे अपनी तरह की कविताएँ लिखते रहे हैं। कुंवर नारायण उनके प्रिय कवियों में से है और वह भी इस वजह से कि उनकी कविता में, 'वादों' का आतंक नहीं है। वैसे, विनोद डेविड अपनी दृष्टि में 'प्रतिबद्ध' व्यक्ति हैं और, वे सार्त्र के उस 'ईमानदार सन्देह' को सामने रखते हैं, जिसके चलते उन्होंने अपने जीवनानुभव अपने 'परिवेश', 'समय' और 'समाज' के सचों को लगातार, सन्देह से देखा।

कहना न होगा कि हमें यह आश्चर्य से भरता है कि हिन्दी की 'काव्य-चेतना' में, ईसाई समुदाय से कोई रचनाकार नहीं आया। कहानी में मात्र एक राबिन शॉ पुष्प को छोड़कर, ईसाई समुदाय से एक भी कथाकार नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में एकाध नाम सुनाई दिया लेकिन विनोद डेविड आधी सदी से कविता में सक्रिय हैं और मध्यप्रदेश के दो वित्त आयोगों के चेयरमैन रह चुके हैं। कविता के वे गंभीर पाठक बने रहे हैं और अपने ही 'पोयटिक-ब्रूडिंग' में, उन्होंने कविता को एक ऐसे तीसरे गवाह के रूप में रखा, जो उनके भीतर के चिन्तन के द्वैत का द्वन्द्व परखता है।

पश्चिम के दर्शन के अध्येता होने की वजह से वे यह जानते हैं कि धर्म ने आन्तरिक जीवन को किस तरह नियोजित किया, मध्ययुगीन योरप को तो 'क्रिस्तानिस्तान' कहा जाता था, सारा योरप ईश्वर पर विश्वास करता था। टी.एस. इलियट की चर्चित कविता 'दि वेस्टलैण्ड' की भावभूमि ही एक संदेह की 'बीजशक्ति' है। विनोद डेविड की कविता का भी 'बीज शब्द' सन्देह है - जो एक 'विश्वास' की अनवरत खोज में है, जो 'मिथक' से भी रू-ब-रू होता है। एक किस्म के 'निरीश्वरवाद' के भीतर से भी कवि गुज़रता है। वह कहता है - 'स्वयम् मैं, बार-बार त्याग देता हूँ। ईश्वर को - दूर बहुत दूर, उससे निरन्तर भागता रहता हूँ, उससे, कभी चाहते हुए, कभी न चाहते हुए।' विनोद जी का कवि 'रूपकात्मकता' के सहारे, कभी मिथकीयता के आवरण को उतारने की चेष्टा में, अपने 'आत्म' से, 'युद्धरत' रहता है। अंग्रेजी कविता में, डिकिन्सन और येट्स, अपने-अपने ढंग से, रहस्य को वेध्य बनाते हैं। एमिली डिकिन्सन, जब ईसा मसीह द्वारा पुनर्जीवन दान का, या मृत्यु का प्रभाव उत्पन्न करना चाहती हैं, तो वह मरते-घुटते, जड़ीभूत होते हुए, मनुष्य होने की, उसके स्वत्व को अविष्कृत करने की कोशिश करती हैं। येट्स की कविता को याद कीजिए, 'बाइजेण्टियम' को। वे विभीषिका और उसके वर्तमान को भी देखते हैं, विनोद डेविड भी कहते है - 'बेतरतीब गलियों में/सफेद कपड़े पहने कुछ लोग/दोनों हाथों से/नोटों की गड्डियाँ उछाल रहे हैं/बगल में जवान लड़कयाँ दबाये, अंधेरे में/नंगे चमकदार चाकू लिये/एक दूसरे के पीछे/हिंसक भेड़िये, झुण्ड में दौड़ते हैं -

कविता अपने रचाव में, एक निरन्तर कविता है, जो चतुर्दिक यथार्थ के पीछे के यथार्थ को प्रश्नांकित करती है। 'आबादी के बीहड़ में, एक अजीब सन्नाटा है, और आदमी अब/केवल अपनी पहचान गिरोह से बनाता है।'

वह समय को केवल राजनीतिक घटनाचक्र या परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं देखते, बल्कि, एक दार्शनिक के ज़रूरी अवसाद में 'पीड़ाग्रस्त प्रश्न' की तरह देखते हैं। क्षण जो समय से परे नहीं, समय में ही है, समय जो इतिहास है, क्षण जो समय में प्रवेश कर इतिहास का विभाजन करता है, अनंत के समय में प्रवेश का वह क्षण, यह एक किस्म के आत्म से सम्वाद की स्थिति है। जिसमें कवि खुद कभी आकुल व्याकुल तो कभी हताहत भी होता है। वह कहता है - मृत्यु के पश्चात जीवन की निरन्तरता एक भ्रम है। एक

निर्मूल कल्पना।

वे स्वीकारते हैं कि उनके आत्म की भिड़न्त गढ़न्त या विखण्डन, जो भी है, वह 'बाइबिलिक सत्य' से नत्थी है, लेकिन उसी में अवस्थित नहीं। हो सकता है, 'सन्देह' का कारण मेरा 'अल्पज्ञान' है, लेकिन अल्पज्ञान पर मेरा विश्वास और उस विश्वास पर, भी सन्देह। यह उनकी कविता का 'आत्मीय प्रत्यय' भी है।

प्रभु जोशी ने इन कविता के बारे में अपनी टिप्पणी दी है, जो पुस्तक में ब्लर्ब के रुप में छपी है, उसके यहाँ इस टिप्पणी में उल्लेख से भी विनोद डेविड की कविता को एक अलग कोण से समझने की सहूलियत देती है। प्रभु जोशी ने लिखा कि 'ये कविताएँ, विरल-सृजन चेष्टा का कदाचित पहला उदाहरण है, जब हिन्दी के काव्यानुभव के आलोक में, एक नई द्युति को जोड़ने की कोशिश है। इनमें कोई धार्मिकता नहीं, बल्कि एक अलभ्य आध्यात्मिकता है। जो, समकाल के संदेह से हर सत्य को विखण्डित करता है। यह भीतर से बाहर का प्रयाण नहीं है, बल्कि अन्दर के 'अन्दर-घनमथन' को निथारने की काव्य प्रविधि है।'

इन दिनों, जबकि 'फण्डामेण्टलिज़्म', पुरा-कथा के पात्रों को कठपुतली की तरह अपने राजनीतिक हित में नचा रही है, और उसे एक छद्म-इतिहास बोध की तरह, रख रही है। ऐसे में विनोद डेविड का कवि 'बाईबिलिक-सत्य' को टी.एस. इलियट की तरह संदेह से देखता है। यह अमानवीयता से 'आत्म संघर्ष' है। विनोद डेविड की कविता, एक आत्म-सजग प्रज्ञा की प्रतिज्ञा को प्रकट करती है और, अपन आयविकता में भी, पद्य के परम्परागत अनुशासन की अवमानना नहीं करती, बल्कि उसे सहेजती है।

अंत में यही कहना होगा कि हम एक कवि मन को जीवन के उत्तरार्द्ध के भी अख़िरी हिस्से में जिवेषणा से भरा पाते है। वहाँ प्रेम भी है, अध्यात्म भी है और वह सब है जो जीवन के हाहाकार से ध्वनित होता है।

❐❐❐

40, अलकापुरी, देवास
मोबाइल : 9424029724

पुस्तक चर्चा

आतंकवाद पर बातचीत

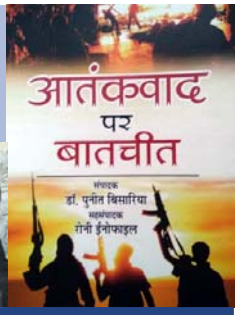

समीक्षक : तेजस पूनिया
लेखक: डॉ. पुनीत बिसारिया
प्रकाशक: यश पब्लिकेशंस

'आतंकवाद पर बातचीत' पुस्तक के लेखक हैं लेखक एवं सम्पादक डॉ. पुनीत बिसारिया। पुनीत बिसारिया अध्यापन के साथ साथ लेखन में भी सक्रिय हैं और भारतीय सिनेमा के इतर अनेक विषयों पर खुलकर तर्कशील विचार पाठकों के समक्ष अपनी रचनाओं के माध्यम से रखते हैं। जिन्ना का सच, भारतीय सिनेमा का सफरनामा, शोध कैसे करें के साथ- साथ आम्बेडकर की अंतर्वेदना, वेदबुक से फेसबुक तक स्त्री इत्यादि जैसी दर्जनों पुस्तकें वे लिख चुके हैं। जो शोधार्थियों के लिए शोध दृष्टि से भी काफी सहायक रही हैं। समीक्ष्य पुस्तक 'आतंकवाद पर बातचीत' भी शोध की दृष्टि से सहायक एवं महत्त्वपूर्ण पुस्तक कही जा सकती है। हालाँकि यह एक सम्पादित पुस्तक है और इसमें विद्वान लेखकों के 40 से अधिक शोध पत्र शामिल हैं। एक कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक या इनके संग्रहों पर समीक्षा करने के स्थान पर सम्पादित पुस्तक की समीक्षा करना बेहद कठिन एवं दुष्कर कार्य है। लेखक द्वय इस सम्पादित पुस्तक के दूसरे सम्पादक सम्पादकीय दुनिया के माध्यम से पुस्तक लेखन में पहली बार कदम रख रहे हैं। लेखकीय दुनिया में उनके कदम काफ़ी सधे हुए एवं निष्पक्ष दिखाई पड़ते हैं।

यह पुस्तक आतंकवाद के विभिन्न पहलुओं से हमें रूबरू कराती है। जिसमें सर्वप्रथम इसमें संकलित आलेख हमें आतंकवाद की सैद्धांतिक समझ देते हैं तो वहीं आतंकवाद के कारणों की जाँच पड़ताल करने का मौका भी। समीक्ष्य पुस्तक में एक ओर आतंकवाद और धर्म का घालमेल है तो दूसरी ओर आतंकवाद का वैश्विक परिदृश्य और साहित्यिक दृष्टि आतंकवाद का परिप्रेक्ष्य भी समझाती है। समीक्ष्य पुस्तक में यूँ तो सभी आलेख अपने अपने स्तर पर महत्त्वपूर्ण हैं ही और उन सभी में विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से आतंक तथा आतंकवाद को समझने का हर एक पहलू पूर्ण शोध परकता के साथ उकेरा गया है। इसी तरह एक आलेख में आतंक के इतिहास पर विस्तृत चर्चा करते हुए आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं तथा अब तक हुए एक लाख चालीस हज़ार से अधिक आतंकी घटनाओं पर आधारित रिपोर्ट भी इसमें प्रस्तुत है। ''गौरतलब बात यह है कि इक्कीसवीं शताब्दी के शुरुआत से 2014 तक आतंकवाद से मरने वालों की संख्या 3329 से लगभग नौ गुणा बढ़कर 32685 हो गई है। वर्ष 2014 में आतंकवाद से मरने वालों की 78 प्रतिशत संख्या पाँच देशों में सीमित रही है। इराक, नाइजीरिया, अफगानिस्तान, पाकिस्तान और सीरिया।'' उक्त आँकड़े हमें दर्शाते हैं कि आतंकियों के हाथ अब कितने खुल चुके हैं और वे धड़ल्ले से, बिना हिचक किसी को भी हलाल करने में नहीं घबराते। उल्टा आम जन इससे अवश्य त्रस्त हैं और यह त्रस्तता एक नासूर को जन्म दे चुकी है और इसके पीछे कारण है बेरोज़गारी, अपराध, संघर्ष, गृह युद्ध, भ्रष्टाचार आदि। भारतीय संस्कृति में इसलिए 'सर्वेभवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया' की कामना की गई है और यह पुस्तक भी आतंक तथा आतंकवाद के एक-एक पक्ष को उधेड़ते-बुनते हुए जाँच पड़ताल करती चलती है तथा पाठकों को संतुष्टि के साथ-साथ एक दु:खजन्य भाव भी परोसती चलती है।

❐❐❐

सम्पर्क : 177 गणगौर नगर, सड़क क्रमांक - 3, आर.एल.जी. गेस्ट हाउस के पास, श्री गंगानगर, राजस्थान 335001, मोबाइल : +919166373652, +9198802707162, ईमेल: tejaspoonia@gmail.com

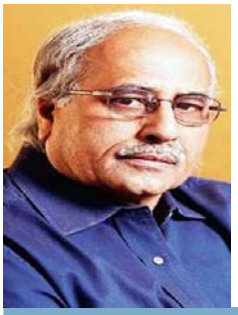

पुस्तक समीक्षा
भीतर दबा सच

समीक्षक : डॉ. दामोदर खड़से
लेखक : डॉ. रमाकांत शर्मा
प्रकाशक : हर्ष प्रकाशन, नई दिल्ली

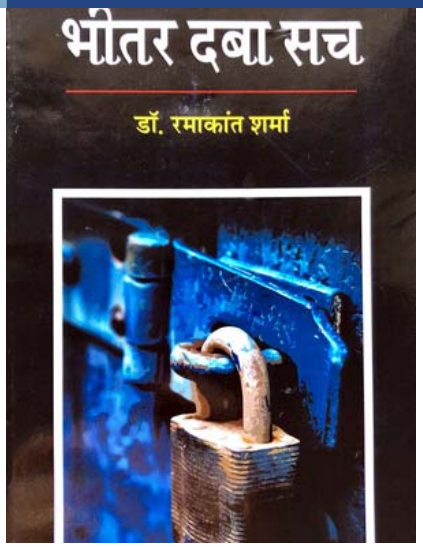

कहानी अपने समय, परिवेश, परिस्थिति का प्रतिबिंब होती है। वैसे तो सारा साहित्य ही इन सारी बातों का प्रतिनिधित्व करता है। काव्य में सांकेतिकता अधिक होती है। कहानी और उपन्यास में पात्रों के माध्यम से जीवंतता और रोचकता पिरोई जाती है। सृजन के क्षणों में लेखक निरपेक्ष नहीं होता, वह किसी पात्र को जीते हुए अपनी प्रक्रिया में व्यस्त रहता है। इसीलिए शैली कोई भी हो, कहानी हमेशा प्रथम पुरुष का बयान लगती है। कथाकार कभी ऊँचाई से तो कभी पात्र के साथ चलते हुए कहानी बुनता है। यथार्थ के धरातल पर खड़े पात्र अमरता पा जाते हैं। इस कथा-यात्रा में घर-परिवार, समाज-राजनीति, देश-विदेश, इतिहास-भूगोल, ज्ञान-विज्ञान के तमाम परिवेश निर्द्वंद्व हो निरंतर बहते रहते हैं। कई कथाकार मनुष्य की भीतरी परतों का विश्लेषण कर सामाजिक, आर्थिक और वैयक्तिक ऊहापोहों को अक्षरबद्ध करते हैं। डॉ. रमाकांत शर्मा उन्हीं में से एक हैं।

डॉ. रमाकांत शर्मा अपनी कहानियों के बीजों को रेखांकित करते हुए कहते हैं - ''हर व्यक्ति अपने को सही समझता है, यहीं से जीवन के द्वंद्व शुरू होते हैं और कहानियों का जन्म होता है.....।'' संग्रह की पहली ही कहानी ''भीतर दबा सच'' ऐसी ही मानसिकता से उपजी है। संपत्ति और सौंदर्य का अहंकार दूसरों को नीचा दिखाकर फलता-फूलता है। बड़ी भाभी इस मुगालते में रहती है कि उसका ऐश्वर्य हमेशा इसी तरह बना रहेगा। लेकिन, समय ने पलटा खाया और ज़िन्दगी का सारा वैभव चूर-चूर हो गया। तब जीवन उपेक्षित, तिरस्कृत और असह्य होता गया। ऐसे में यदि कोई उदार और दयालु व्यक्ति देवर के रूप में न मिलता तो जीवन मुहाल हो जाता। बड़ी भाभी के ''भीतर दबा सच'' हालात के कारण स्पष्ट हुआ। कथाकार ने सहजता से कह दिया - ''ईश्वर कभी किसी को इतनी बेचारगी न दे कि वह किसी के भी पास, यहाँ तक कि अपने संगे-संबंधियों के पास भी अवांछित और बोझ बन कर रहे.....।'' कहानी में मनुष्य के स्वभावगत व्यवहार का मनोविश्लेषण बहुत सूक्ष्मता से हुआ है।

यह संग्रह एक विशिष्टता लिए हुए है कि कहानियों में विविधता बहुत है। एक ओर जहाँ मनोविश्लेषण है, वहीं सामाजिकता भी है, परिवार बाँधे रखने के लिए उदाहरण भी हैं, सांप्रदायिक भावावेश पर सदाशयता की कसौटी है और सतत अच्छाई की विजय पताका लहराती दिखती है। वह भी दिखावटी नहीं, बल्कि सहज, स्वाभाविक रूप में सब घटित होते चलता है क्योंकि अभी भी समाज में सकारात्मक शक्तियाँ हैं। कथाकार ने ऐसे ही सकारात्मक पात्रों के इर्द-गिर्द कथावस्तु का ताना-बाना बुना है। कथाकार शेष - ''सत्यम् शिवम् सुंदरम्'' का अनायास ही पक्षधर प्रतीत होता है। ''अक़ीदत'' में कर्तव्य निर्वहन के दौरान पूजा और नमाज़ को लेकर आपस में तकरार होती है, लेकिन अंततः फ़र्ज़ सर्वोपरि होता है और सांप्रदायिकता पीछे छूट जाती है। कथाकार ने इसे सांप्रदायिक मुद्दे की कहानी होने से साफ बचा लिया है। चेतावनी यह है कि ''याद रखो, फ़र्ज़ भूल कर उसकी इबादत करोगे तो वह उसे कतई क़ुबूल नहीं होगी।''

''गुड्डी'' कहानी ''दो वक़्त की रोटी खाने के लिए दूसरों की रोटियाँ बनाने को भाग्य समझने वाली''' कामवाली युवती की मर्मस्पर्शी कहानी है। हमेशा मालिक और मज़दूर के बीच एक टकराव देखा जाता है। लेकिन, इस कहानी में गुड्डी की ईमानदारी और मालकिन की संवेदनशीलता देखते ही बनती है। हालाँकि यह एक बिरला संयोग लग सकता है, पर मालकिन के व्यवहार से अंदर तक भीगी गुड्डी की यह कहानी अविश्वसनीय कतई नहीं लगती। मनुष्यता का यह दुर्लभ समीकरण सकारात्मक सोच की नींव रखता है। इसके विपरीत, सारी दुनिया को ''जूते की नोक पर'' रखने वाला दिनेश बाबू सबको ठुकराता है। उसका अहं उसे निरंतर अकेलेपन की ओर ढकेलता है। प्रतिभावान होते हुए भी वह भावनाओं को नहीं पहचान पाता और उन्हें ठुकरा कर अंधेरेपन की गहरी खाइयों में गिरता चला जाता है। कथाकार ने प्रेम, समर्पण, अहंकार और अकेलेपन को बहुत सूक्ष्मता से रेखांकित किया है।

डॉ. रमाकांत शर्मा अपनी छोटी-छोटी कहानियों में मनुष्य के अतल मन की गहराइयों की थाह लेते हैं। मनुष्य अपने व्यवहार से अपने मन को प्रकट करता है। कहानी ''माँ के चले जाने के बाद'' एक पिता की भीतरी परतों में दबी भावना का बहुत प्रखर पल्लवन है। निरपेक्ष और कुछ हद तक नकारात्मक स्थिति में पहुँचने वाले पिता को जब यह पता चलता है कि उसका बेटा भी अपनी माँ को खोकर कितना दुःखी है तो वह एक अपराध भाव से भर उठता है और उसे अपनी निष्ठुरता पर अफसोस होता है। इस संग्रह की

कहानियों की एक और विशेषता यह है कि स्थितियाँ खलनायक का काम करती हैं और अंतत: सकारात्मक सोच की विजय होती है।

''एक पत्र की मौत'' अद्भुत प्रेम कथा है। यह कहानी, इस बात को पुराने तथाकथित आदर्श के घेरे में न रख कर कि - सच्चा प्रेम त्याग में पलता है - उसे एक नया आयाम देती है। ऐसी ही एक कहानी ''सत्ताइस साल बाद'' है जो असफल प्रेम की प्रौढ़ावस्था में याद के रूप में उजागर होती है। ''वह क्यों रोई'' मनुष्य की भीतरी संवेदनाओं और अच्छाइयों को उकेरने वाली कहानी है। ''भीतरी परतें'' एक गाइड प्रोफेसर के स्वभाव को प्रतिध्वनित करती कहानी है, जो बाहर से बहुत कठोर है और अंदर से बहुत संवेदनशील। कई बार कुछ दुर्घटनाएँ मनुष्य की भीतरी परतों को खोलने में मदद करती हैं। ''वह बड़ा हो गया था'' अभावों में पल रहे बचपन को अचानक बड़ा होते अनुभव करने की स्थिति में किसी भी माँ को चौंका सकती है। ''मास्टर प्यारे लाल'' एक ऐसे मास्टर की मार्मिक कहानी है जिसे निलंबन के बाद अपना परिवार चलाने के लिए क्या कुछ नहीं करना पड़ा। उसकी स्थिति से वह उद्दंड विद्यार्थी भी द्रवित हो आया जो उसके निलंबन का कारण बना था। ज़िम्मेदारी, प्रेम और समर्पण के प्रतीक के रूप में ''मंदिर की सबसे ऊँची सीढ़ी'' कहानी को देखा जा सकता है। प्रेम का सात्विक रूप जगमगाते भविष्य का प्रतीक बना जाता है। ''मैं भी कुछ हूँ'' अस्पतालों में मरीज़ों की दुर्दशा बयान करती कहानी तो है ही, मनुष्य के मन में पलती उस आकांक्षा को अभिव्यक्त करती कहानी भी है जिसमें वह अपने छोटेपन से उबरने के लिए अपने अधिकारों का इस्तेमाल दूसरों को छोटा दिखाने में करता है और उसका आनंद भी लेता है। कहानी ''मैं और नदी'' का शिल्प नवीनता लिए है। नदी और स्त्री पात्र के जीवन की तुलना करती हुई यह कहानी नदी का सा प्रवाह लिए चलती है और पढ़ते समय वैसी ही ताज़गी का अहसास कराती है। कहानी ''उतरती धूप'' समय रहते ज़िन्दगी को जी लेने का संदेश देती है।

डॉ. रमाकांत शर्मा मानव मन की अतल गहराइयों में पहुँच कर पात्रों के सुख-दु:ख से संवाद करते हैं। ''और कुछ जानना चाहते हैं आप''? - कहानी की मुख्य नारी पात्र यह प्रश्न करती है। नौकरीशुदा महिलाओं की त्रासदी, चुनौती और वरिष्ठ अधिकारियों की नज़र को उजागर करती यह कहानी अकेली कामकाजी स्त्री की व्यथा-कथा है। वह महसूस करती है कि अकेले रहना भी कोई आसान काम नहीं है। जाना-पहचाना हर पुरुष यह मानता है कि अकेली रहने वाली स्त्री उसके लिए उपलब्ध है। यह कहानी लालची दुर्व्यवहार और उसके प्रतिकार की कहानी है। ''ईश्वर अगर है तो'' अलग तरह की कहानी है। यह कहानी ईश्वर की कल्पना के अलग-अलग आयामों को छूती हुई ईश्वर की मौजूदगी के अहसास को अनुभव कराने की एक कोशिश है।

वही कहानी मन में जगह बना पाती है जिसमें यथार्थ का पुट हो, रोचकताभरा बयान हो और मनुष्य की भीतरी परतों की दास्तान हो। इस दृष्टि से डॉ. रमाकांत शर्मा की कहानियाँ खरी उतरती हैं। उनका कोई भी पात्र काल्पनिक नहीं लगता, वह जीता-जागता हाड़-माँस का मनुष्य होता है। कहानी की कहन सहज, स्वाभाविक और सरल शैली में होने से पाठकों के लिए रोचकता से भरी होती है। कहानियाँ पढ़ कर ऐसा लगता है कि हमेशा सदाशयता की जीत होती है। पात्र एक सात्विकता के साथ जीवन को देखते हैं और विपरीत स्थितियों में भी अपने को डिगने नहीं देते, यह कथाकार की सृजनात्मक जीत है।

इस संग्रह की कहानियों की भाषा बहुत सहज है, शैली कहानियों के मर्म तक पहुँचाने में सफल रही है। हर कहानी कोई न कोई संदेश देती है। यह संदेश, मौटे तौर पर लाउड न होकर मनोविश्लेषणात्मक ढंग से, मनुष्य के मन को अनेक आयामों, कोणों से निरूपित कर प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों की रोचकता और पठनीयता विशिष्ट गुण के रूप में उजागर होते हैं।

❐❐❐

बी - 503-504, हाई ब्लिस, कैलाश जीवन के पास, धायरी, पुणे - 411041
मोबाइल : 09850088496
ईमेल : damodarkhadse@gmail.com

लेखकों से अनुरोध

'शिवना साहित्यिकी' में सभी लेखकों का स्वागत है। अपनी मौलिक, अप्रकाशित रचनाएँ ही भेजें। पत्रिका में राजनैतिक तथा विवादास्पद विषयों पर रचनाएँ प्रकाशित नहीं की जाएँगी। रचना को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार संपादक मंडल का होगा। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा। बहुत अधिक लम्बे पत्र तथा लम्बे आलेख न भेजें। अपनी सामग्री यूनिकोड अथवा चाणक्य फॉण्ट में वर्डपेड की टैक्स्ट फ़ाइल अथवा वर्ड की फ़ाइल के द्वारा ही भेजें। पीडीएफ़ या स्कैन की हुई जेपीजी फ़ाइल में नहीं भेजें, इस प्रकार की रचनाएँ विचार में नहीं ली जाएँगी। रचनाओं की साफ़्ट कॉपी ही ईमेल के द्वारा भेजें, डाक द्वारा हार्ड कॉपी नहीं भेजें, उसे प्रकाशित करना अथवा आपको वापस कर पाना हमारे लिए संभव नहीं होगा। रचना के साथ पूरा नाम व पता, ईमेल आदि लिखा होना ज़रूरी है। आलेख, कहानी के साथ अपना चित्र तथा संक्षिप्त सा परिचय भी भेजें। पुस्तक समीक्षाओं का स्वागत है, समीक्षाएँ अधिक लम्बी नहीं हों, सारगर्भित हों। समीक्षाओं के साथ पुस्तक के कवर का चित्र, लेखक का चित्र तथा प्रकाशन संबंधी आवश्यक जानकारियाँ भी अवश्य भेजें। एक अंक में आपकी किसी भी विधा की रचना (समीक्षा के अलावा) यदि प्रकाशित हो चुकी है तो अगली रचना के लिए तीन अंकों की प्रतीक्षा करें। एक बार में अपनी एक ही विधा की रचना भेजें, एक साथ कई विधाओं में अपनी रचनाएँ न भेजें। रचनाएँ भेजने से पूर्व एक बार पत्रिका में प्रकाशित हो रही रचनाओं को अवश्य देखें। रचना भेजने के बाद स्वीकृति हेतु प्रतीक्षा करें, बार-बार ईमेल नहीं करें, चूँकि पत्रिका त्रैमासिक है अत: कई बार किसी रचना को स्वीकृत करने तथा उसे अंक में प्रकाशित करने के बीच कुछ अंतराल हो सकता है।

धन्यवाद
संपादक
shivnasahityiki@gmail.com

पुस्तक समीक्षा
संकल्प और सपने

समीक्षक : विनिता राहुरिकर
लेखक : सदाशिव कौतुक
प्रकाशक : शिवना प्रकाशन, सीहोर, मप्र

कहानियाँ कहीं आसमान से नहीं आतीं। वे अंतर के अनुभव से जन्म लेती हैं। जीवन भर हम अपने आसपास रोज़ ही अनुभव के न जाने कितने ही ऐसे क्षणों को जीते हैं, देखते हैं। जो दृष्टि इन क्षणों में घटित कुछ 'विशिष्ट' को पकड़ कर उन्हें शब्दों में ढालकर अभिव्यक्ति कर देती है वहीं लेखकीय दृष्टि है। लघुकथाएँ भी इन्हीं ''क्षण विशेष'' की कथाएँ कहती हैं। और इन विशेष क्षणों को पकड़ने की लेखक में विलक्षण दृष्टि है। इस रूप में यह संग्रह बहुत समृद्ध है और इसने लघुकथा विधा को भी समृद्ध किया है। एक ही उम्र की दो महिलाओं के भिन्न संबोधन के असमंजस से उपजी पहली लघुकथा ''संकल्प'' का यह वाक्य ''दुनिया में ग़रीब वही है जो शिक्षित नहीं है'' शिक्षा के महत्त्व को एक अलग ही तरीके से प्रतिपादित करती है। ज्ञान का अभाव भूत, भविष्य, वर्तमान को अंधकार में डुबोकर व्यक्ति को बहुत निचले पायदान पर खड़ा कर देता है। ऊपर वही उठ पाता है जो वस्तुस्थिति को समझ लेता है। ''धुआँ'' लघुकथा अंतर के रौंगटे खड़े कर देती है। भुने माँस की खुशबू को मुर्गी भुनने की सुगंध समझकर पुरुष का निश्चिंत बीड़ी फूँकते रहना उसके जीते जी भावशून्य हो जाने अर्थात एक तरह से मर जाने का ही प्रतीक है। अकर्मण्यता पुरुष को न सिर्फ क्रूर और स्वार्थी बना देती है वरन् संवेदनहीन होकर वह मृतप्राय ही हो जाता है। दूसरों की शौक पूर्ति में अपनी ज़रूरतों को पूरा करने की अभावग्रस्त दयनीयता की दारुण कथा है ''सपना'', तो वहीं वर्तमान परिदृश्य में अप्रासंगिक हो चले रावण दहन के उत्सव पर गहरा कटाक्ष है लघुकथा ''पौरुष विहीन''। सच है जिस देश में नित नए रावण जन्म लेकर कितनी ही सीताओं को दारुण त्रासदियों में झोंक रहे हैं वहाँ प्रतिवर्ष मात्र पुतले जलाकर क्या होगा।

''सवाल रोटी का'' लघुकथा भी समाज की उसी विसंगति को इंगित करती है। जहाँ पेट की रोटी के आगे पिता का प्रेम स्वार्थी हो जाता है तो वहीं माँ की ममता मजबूर। और एक गहरा कटाक्ष अंत में की देश में करोड़ों लोग ज़ुबान होते हुए भी गूंगे हैं वहाँ एक और सही....

पेट का भाड़ा भरने की समस्या मनुष्य को विकासक्रम में पशुओं से नीचे की श्रेणी में खड़ा कर देती है। मनुष्य के अलावा प्रकृति का कोई अन्य जीव पेट भरने के लिए अपनी ही संतान की बिक्री नहीं करता। ''एक-दूजे'' साथ रहकर विकास के मार्ग में छोटे-बड़े का भेद भुलाकर सबके समान योगदान को स्वीकारने की बात कहती है।

''पतिव्रता'' उन आधुनिक लड़कियों की मानसिकता पर व्यंग्य करती है जो जीवन में मौज के लिए अपने कौमार्य को बेचने में भी हिचकिचाती नहीं हैं और बड़े आराम से कह देती हैं कि विवाह के बाद मैं पतिव्रता हो जाऊँगी। जो वास्तव में पतिव्रता होने का अर्थ ही नहीं समझ सकती उन पर तो इतिहास की वीरांगनाएँ आँसू ही बहा सकती हैं। सक्षम व्यक्ति की नज़रों में एक लाचार के श्रम की क्या कीमत होती है। वह उसके श्रम की भीख तुल्य ही आँकता है। यही वास्तविकता दर्शाती है ''शोषण''। वास्तव में मनुष्य की मानसिकता भी अजीब होती है वह बड़ी दुकान में सैकड़ों रुपये अतिरिक्त फूँक आएगा किन्तु किसी ज़रूरतमंद को उसके श्रम का वास्तविक मूल्य नहीं चुकाएगा।

''असमय मौत'' स्वार्थ की पराकाष्ठा है जहाँ संतान अपने स्वार्थ के लिए अपने ही जन्मदाता को असमय मौत के घाट उतारने से नहीं हिचकिचाते। भयानक है, अपवाद है किन्तु सत्य है कि ऐसी संतानें भी होती हैं। ''अनुमान'' वृद्धाश्रम बनने के पीछे की व्यथा है तो ''मर्दानगी'' देश द्रोहियों की कथा। ''अहमियत'' अन्याय के विरुद्ध बोलने को प्रेरित करती है तो वहीं ''सौदा'' जीवन की एक और विद्रूपता की तरफ इशारा करती है कि आज की पूँजी विचार नहीं धन है। धन कमाना ही धर्म है। और दूसरी विद्रूपता कि स्त्री बच्चे पैदा करने की मशीन है। जैसे मशीन तैयार समान को बेचने के लिए मशीन से अनुमति नहीं लेनी पड़ती वैसे ही स्त्री को भी बेजान मशीन समझकर उससे अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है।

''सुख की तलाश'' लघुकथा एक विचित्र सत्य की ओर इंगित करती है। यह बिल्कुल सम्भव है और सत्य भी की पैसे के लोभ में कुछ लोग झूठी शहादत भी कबूल लेते हैं। ''नाकामयाबी'' आज की भ्रष्ट व्यवस्था पर अच्छा तंज़ है। आज का दौर ऐसा हो गया है कि ईमानदार आदमी हाशिये पर खड़ा कर दिया जाता है। तंत्र की भ्रष्टता पराकाष्ठा पर है। यही बात ''युक्ति'' में भी दूसरे तरीके से कही गई है। ''एक से बढ़कर एक'' सोचने को मजबूर करती है कि वास्तव में डाकू कौन है, वे जो घरों में कभी कभार लूट करते हैं या वे जो रोज़ देश को लूट रहे हैं।

''नहीं चाहिए आँखें'' अंधी ही रहने का फैसला करने को

मजबूर युवा बेटों की माँ के प्रति संवेदना जगाती है। अन्न की व्यवस्था हेतु जिसे अंधा रहना ही श्रेयस्कर लगा।

''उल्टी गंगा'' एक नई किन्तु तेज़ी से प्रचलित होती जा रही रीति पर प्रकाश डालती है। भव्य शादी और उससे भी भव्य स्वरुचि भोज के समय आगंतुकों से आशीर्वाद लेने के लिए समय पर विवाह स्थल पर उपस्थित रहने की बजाय दुल्हनें ब्यूटी पार्लर में इतनी रात तक मेकअप में व्यस्त रहती हैं कि आधे से अधिक अतिथि बिना आशीर्वाद दिए ही लौटने को विवश हो जाते हैं। यह प्रचलन दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

''मुफ्तखोर'' लघुकथा लेखकीय दृष्टिकोण और तथाकथित साहित्य जगत् की सच्चाई सामने लाती है। यह बिल्कुल सत्य है कि आज स्वयं साहित्यकार ही साथी लेखकों की पुस्तक खरीदने में सौ रुपये तक खर्च नहीं करना चाहते। हाँ लेकिन मुफ्त में मिले तो सबसे आगे खड़े नज़र आते हैं। लेखक होकर अपने ही वर्ग की इस कमज़ोरी को लिखना बड़े हौसले का काम है। ''सेल्फी'' लघुकथा एक अन्य ऐसे अछूते विषय पर है जिस पर अभी तक किसी ने नहीं लिखा। सेल्फी के चक्कर में आत्मघाती प्रवृत्ति का घातक बीमारी हो गई है युवाओं में। ''करिश्मा'' बहुत सटीक मानवेतर लघुकथा है जो वृक्ष और तोते के माध्यम से हवाबाज़ नेताओं की कलई खोलती है।

उपरोक्त पुस्तक लघुकथाओं के माध्यम से देश, समाज, घर, परिवार के लगभग सभी पहलुओं को बड़ी बारीकी से परखती हैं। कोई विषय ऐसा नहीं है जो लेखक की कलम से अछूता रह गया हो। यह वर्षों के अनुभवों का दस्तावेज़ है। सोचने के लिए नई दृष्टि देता है। घपले-घोटाले हैं तो व्यक्तिगत समस्याएँ भी हैं। उच्च, मध्य, निम्न सभी वर्गों को लेखक ने पुस्तक में समेट लिया है। दृष्टि निष्पक्ष है। कहीं कोई भेदभाव नहीं है। सभी पहलुओं पर लेखक की कलम ईमानदार तटस्थता से चली है।

❐❐❐

श्री गोल्डन सिटी, 28, फेस 2, होशंगाबाद रोड़, जाटखेड़ी, भोपाल, मध्यप्रदेश
462043, मोबाइल : 982604474

पुस्तक चर्चा

अश्वत्थामा यातना का अमरत्व

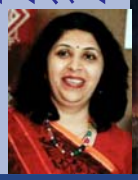

समीक्षक : दीपक गिरकर
लेखक: अनघा जोगलेकर
प्रकाशक: उद्वेली बुक्स, ठाणे

''अश्वत्थामा यातना का अमरत्व'' अनघा जोगलेकर का 2018 में आया ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास में अनघा ने महाभारत युद्ध के एक ऐसे योद्धा पर अपनी कलम चलाई है जिसका उल्लेख अधिक नहीं है। यह उपन्यास शापित योद्धा अश्वत्थामा के आपराधिक बोध और आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति का दस्तावेज़ है। हस्तिनापुर के कुलगुरू द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा एक सर्वगुण संपन्न महारथी था लेकिन उसने अधर्म का साथ दिया। लेखिका ने इस उपन्यास में अश्वत्थामा के दृष्टिकोण से महाभारत के कुछ पहलुओं को बहुत ही रोचक तरीके से प्रस्तुत किया है। उपन्यास में अनघा ने इस उपेक्षित महारथी का दर्द, पीड़ा और यातना का मार्मिक चित्रण किया है। अश्वत्थामा को होने वाला आपराधिक बोध पूरे उपन्यास में फैला हुआ है। उपन्यास का नायक पश्चाताप की अग्नि में अभी तक जल रहा है, न जाने कितने युगों तक वह मुक्ति के लिए तड़पता रहेगा और यातना भोगता रहेगा। इस पुस्तक को पढ़ते हुए अश्वत्थामा की विलाप पल-पल सुनाई पड़ती है।

इस उपन्यास का काल महाभारत युद्ध के कुछ दशक पश्चात् का है। इस उपन्यास की कथा का सूत्रधार शारणदेव है जो कुरुक्षेत्र के पास के गाँव का एक ब्राह्मण है। ''अश्वत्थामा यातना का अमरत्व'' एक कथा नहीं सत्य है, एक सच है.. अश्वत्थामा का सच...., जिसकी विभीषिका अश्वत्थामा आज भी वहन कर रहा है और आगे भी अनंतकाल तक उसे वहन करना है क्योंकि प्रारब्ध से कोई नहीं बच सकता है। परंतु प्रारब्ध लिखता कौन है? हर व्यक्ति अपना प्रारब्ध स्वयं ही रचता है और अश्वत्थामा ने भी अपना प्रारब्ध स्वयं ही निश्चित किया था। यह उपन्यास अश्वत्थामा के जीवन संघर्ष एवं यातना के अमरत्व का श्राप मिलने के बाद उसके आत्मविश्लेषण की गाथा और महाभारत युद्ध के युग का दर्पण है। उपन्यास में अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जहाँ उपन्यास का नायक अश्वत्थामा का मन अपने पिताजी द्रोणाचार्य के लिए वितृष्णा से भर उठता है। अनघा ने गुरू द्रोणाचार्य की महत्त्वाकांक्षा एवं उनके अभिमान को और महाभारत के सभी पात्रों के मनोविज्ञान को अश्वत्थामा के माध्यम से भली-भाँति निरूपित किया है। जब गुरु द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अश्वत्थामा को ब्रह्मास्त्र का ज्ञान दिया था तब अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र को चलाने का तो ज्ञान प्राप्त कर लिया था लेकिन उसे चलाने के बाद निरस्त करने का ज्ञान प्राप्त नहीं किया था और अपने पिताजी का उपहास किया था। उस उपहास ने ही अश्वत्थामा के जीवन का उपहास बनाकर रख दिया। इस प्रसंग को भी लेखिका ने अपनी लेखन शैली से जीवंत कर दिया। पुस्तक में महाभारत के महारथियों की शौर्यगाथाएँ, राजनीति, षड्यंत्र, दर्द, पीड़ा, यातना, पश्चाताप का चित्रण तो है ही और साथ में गुरु द्रोणाचार्य की शिक्षा प्रणाली का भी चित्रण है। यह उपन्यास अपने कथ्य, प्रस्तुति और चिंतन की दृष्टि से भिन्न है। लेखिका ऐतिहासिक तथ्यों की तह तक गई है। लेखिका ने अधिकांश अध्याय के अंत में उस अध्याय से संबंधित दंतकथा का सार्थक प्रयोग किया है, सही तथ्य प्रस्तुत किये हैं, पाठकों से प्रश्न किए हैं और उन प्रश्नों के संभावित उत्तर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ पाठकों के सामने रखे हैं।

❐❐❐

28-सी, वैभव नगर, कनाडिया रोड, इंदौर- 452016
मोबाइल : 9425067036, ईमेल : deepakgirkar2016@gmail.com

पुस्तक समीक्षा
तब तुम कहाँ थे ईश्वर

समीक्षक : कुमार विजय गुप्त
लेखक : आरती तिवारी
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, जयपुर, राजस्थान

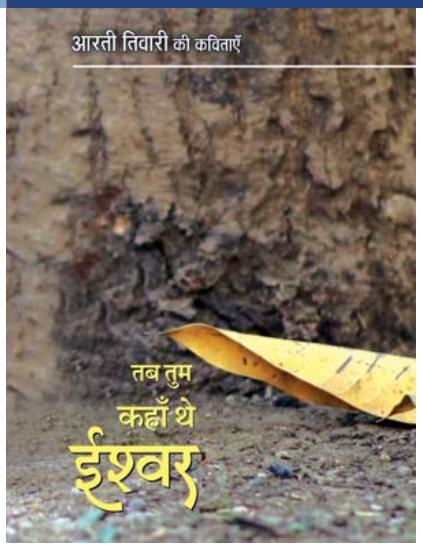

कविता की भावनात्मक और मुलायम दुनिया को सजाने सँवारने और अपने व अपने समाज के हिस्से के दु:ख-दर्द को सामने लाने में इन दिनों जिन कवयित्रियों को काव्य जगत् में जाना पहचाना जा रहा है, आरती तिवारी उनमें से एक बेहद महत्त्वपूर्ण नाम है। हिंदी की तक़रीबन सभी प्रतिष्ठित पत्र- पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ अपनी उपस्थिति दर्ज कर रही हैं और पाठकों के दिलो-दिमाग में अपना घर बना रही हैं। दरअसल, इनकी कविताओं में एक ओर जीवन के विविध रूपों की छटा बिखरी नज़र आती है, तो दूसरी ओर प्रतिरोध का स्वर भी गुंजित होता है। एक ओर खुरदरे संसार के यथार्थ को उद्घाटित करती हैं तो दूसरी ओर दुनिया को बेहतर बनाने की एक ज़िद भी दिखाई देती है। वे रिश्तों के कोमल रेशों को पूरी आत्मीयता और शिद्दत से सँभालती हैं, मानवीय संबंधों को प्रमुखता देती हैं, प्रकृति से प्रेम करती हैं और इन्हें बचाने में लगी भिड़ी रहती हैं। परम्परा और संस्कृति को वे जीवन को सँवारने का एक ज़रिया मानती हैं किन्तु रूढ़िगत अवरोधों को लाँघने का अदम्य साहस भी दिखाती हैं। वे शब्दों में संस्कार भरना चाहती हैं। इसलिए उनकी कविताएँ जीवन का मधुर राग हैं, जिनकी ध्वनि आह्लादित करती हैं। कहीं-कहीं तो मन को झकझोरती हैं और बहुत कुछ सोचने को विवश भी करती हैं।

''तब तुम कहाँ थे ईश्वर'' कवयित्री आरती तिवारी का पहला काव्य संग्रह है, जिसमें उनकी 58 बेहतरीन कविताएँ हैं। इनमें से कई कविताएँ सोशल मीडिया पर भी पढ़ी और काफी सराही गई हैं। इन कविताओं में जीवन के विभिन्न रंग अपने दमक के साथ दिख जाते हैं। वे अपने आसपास की हरेक दृश्य-अदृश्य चीज़ों को अपनी कविताओं में सुरक्षित करना चाहती हैं। इसलिए उनका रचना संसार जीवन के हक़ीक़त की वैसी दस्तावेज़ है, जिसमें आडम्बर लेशमात्र दृष्टि गोचर नहीं होता। आरती की कविताओं को प्रस्तुत करते हुए साहित्यविद सुधीर सक्सेना कहते हैं कि ''कवयित्री के स्वर में निर्भीकता है, मगर उच्छृंखलता नहीं। उनकी कविताओं में अनुभूतियों का समृद्ध हरियल संसार है, भाषा का ठाठ है। वहाँ भावनाओं का अविरल प्रभाव है, तो विचारों की वीथियाँ भी। वहाँ न क्रांति का बड़बोलापन है और न ही घरघुसी परम्परावादी रूढ़िग्रस्तता।'' इन कविताओं के बारे में समीक्षक नासिर अहमद सिकंदर एक छोटी-सी किन्तु बहुत ही बड़ी बात कहते हैं कि ''संकलित कविताएँ किसी नए कवि की कविताएँ नहीं हैं बल्कि किसी कवि की नई कविताएँ हैं। इन कविताओं में नयापन इस हद तक है कि वह कथ्य, शिल्प, भाषा, संरचना तक ही सीमित नहीं है - बिम्ब, प्रतीक, ब्यौरे, भावबोध - यहाँ तक कि प्राकृतिक चित्रण की व्याख्या तक में नयापन है''। कविताओं में सौंदर्यबोध को लेकर टिप्पणीकार प्रदीप मिश्र कहते हैं कि ''घुप्प अँधेरे में जलते किसी अकेले दीपक या जुगनू की पूँछ से चिपकी रौशनी की तरह आयत होती इन कविताओं में नैसर्गिक कवि मन की सुंदरता सौंदर्यबोध की तरह है''।

आरती का प्रकृति से, खासकर अपनी माटी अपनी आबोहवा से काफी अनुराग है। वे जीवन के सौंदर्य को प्राकृतिक अवदानों का एक भाग मानती हैं। इसलिए प्रकृति की आभा और उसके महत्त्व को बड़ी आत्मीयता से अपनी रचनाओं में रखती हैं। मूलत: वे हमारे अस्तित्व को प्रकृति से जोड़कर देखती हैं। इसलिए जब उनका क्षरण होता है तो उनके अंदर का कवि कविता में कराह उठता है। वे उन चीज़ों को अपनी कविता में संरक्षित रखना चाहती हैं, जिसे आज की पीढ़ी शायद नेट पर ही देख या समझ पाए; हक़ीक़त में वह क्या है, उसका रंग, उसका स्वाद, उसकी गंध सब कुछ केवल क़िस्सों कहानियों में ही मिल पाए ! उन चीज़ों को बड़े जतन से कवयित्री अपनी रचनाओं में सम्मान देती हैं। ''अमलतास'' कुछ ऐसे ही आस्वाद की कविता है, पंक्तियाँ देखीं जाए :

..और आम के चंदोवे पे / केरियाँ जब पकती हैं / जंगल मदहोश हुआ जाता है / छक के समो लेती हूँ ज़ेहन में / खुशबुओं के ख़ज़ाने / और आषाढ़ी हवाएँ बिछा देती हैं जामुनी गलीचे / मायके से लौटती बेर / रच जाता है पाँवों में महावर / महुआ परोस देता है पत्तल में /लौंजी और अचार और / तेंदू के दोनों में आमरस...

''सुन रही हो श्यामली !'' इसी प्रकृति और मनुष्य के बीच तादाम्त्य स्थापित करने वाली एक बेहतरीन और महत्त्वपूर्ण कविता है। इस कविता को पढ़ते हुए अचानक ज्ञानेंद्रपति की ''चेतना पारिक' याद आ जाती है और उसी तरह का अवसाद घिर आता है। पंक्तियाँ देखें :

....वो झरना अब अपनी फेनिल धारा / दूधिया न रह पाने का दु:ख मनाते / दुबला हो चला है / उसकी धाराओं के साथ बह गई / हमारे रूठने मानने की / कितनी ही रुलाइयाँ....

कवि का हृदय तो यूँ भी फूल सा कोमल, रुई सा सफ़ेद, झरनों सा निश्छल और शीशे सा पारदर्शी होता है। इसलिए आरती की कविताओं में बाल मन की निष्कलुष अभिव्यक्ति प्रस्फुटित होती है। इस संग्रह में मेरे अंदर का बच्चा, बच्चे बड़े हो रहे हैं, किट्टू की हँसी जैसी कविताएँ भी हैं जिसमें यह उज्ज्वल पक्ष देखा जा सकता है। किन्तु इसके साथ ही बचपन की दूसरी तस्वीरें भी हैं, जिस पर उपेक्षा और दर्द का काला साया भी है, जिसकी झलक इन पंक्तियों में महसूस की जा सकती है : इस टूटते गिरते समय की सड़क पर / भागते फिसलते रपटते सँभलते/ बसंत के पियानों पर / पतझड़ की धुन सुनते-सुनते / दर्ज कर रहे अपनी उपस्थिति.. / बच्चे बड़े हो रहे हैं।

इसी दर्द की अभिव्यक्ति संग्रह की शीर्षक कविता ''तब तुम कहाँ थे ईश्वर'' में भी हुई है। यह बिम्ब और प्रतीकों के सहारे छायावादी शैली में लिखी गई एक गहरी कविता है, जिसकी आत्मअभिव्यक्ति में कवयित्री कहती हैं ''मेरे बचपन का ही आख्यान है। जन्म से जिस ईश्वर की कण-कण में उपस्थिति, हर संकट में पुकारने पर दौड़े चले आने की कहानियाँ, स्तुतियाँ सुनकर भी बड़ी हुई थी, उसे ही पुकारा था किन्तु वो प्रार्थनाएँ अनसुनी रह गईं।'' इस कविता की पंक्ति-दर-पंक्ति दर्द में डूबी हुई हैं। यूँ तो ईश्वर को संबोधित करते हुए भिन्न कवियों के द्वारा कई कविताएँ लिखी गई हैं, किन्तु आत्मकविता के रूप में आरती तिवारी की यह कविता ''आह'' का मूर्त शब्दांकन है : ....उदास टहनियाँ कलियों को / रस्मी - दिलासे देकर चुप थीं / फट गया था / दूसरे पत्ते का सीना / तुम्हारे लिए ये महज़ दृश्य था / सब्ज़ पत्ते ने फिर से एक बार/ पूरी ताक़त लगाकर / पुकारा था तुम्हें / टूट कर गिर जाने से पहले / तब तुम कहाँ थे ईश्वर ....

हम जिस समाज में रहते हैं, जिस तरह की हवा अपने फेफड़ों में भरते हैं, जिस तरह के पानी से अपनी अंतरात्मा को तर करते हैं, उसके प्रति भी हमारी कृतज्ञता होनी चाहिए, उसके प्रति भी हमारा दायित्व बनता है। और जब हमारे इस नैसर्गिक रिश्ते को नष्ट करने की साजिश होती है तो एक सुकोमल कवि प्रतिकार कर उठता है। उनके अंदर की अभिव्यक्ति चीखती है। कवि का विरोध सिर्फ शब्दों को रचने तक सीमित नहीं रहता है। उसके मर्म को समझाने और उस पीड़ा को दूसरों को भी महसूस करने को उद्वेलित होता है। ऐसी छटपटाहट ऐसी व्यथा कविता ''दंगा, कर्फ्यू और भूख'' में मिलती है।

बेशक, स्वार्थगत राजनीति ने हमारे सामाजिक समीकरण को कमज़ोर किया है, हमारे सामाजिक रिश्तों को तार-तार किया है, हमारे बीच अविश्वास का कोहरा पैदा किया है जिससे हमारी मनुष्यता संदिग्ध हुई है। हम एक दूसरे को पहचानने की शक्ति खो रहे हैं। और जो समाज के इन ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने पर तुले हैं उनके स्वार्थ की फसल लहलहा रही है। इस बीच पिस रहा है तो आम आदमी, जिसकी निस्तेज़ आँखों में महज नून, तेल, लकड़ी ही दिन-रात घूमती रहती है। ऐसे लोगों को पहचानने के लिए एक छोटी सी कविता ''प्रतिरोध'' की पंक्तियाँ समाज की आँख खोलने के काफी है : दोषी वे नहीं थे तुम भी नहीं / स्वहित साधने के इस दौर में / ये खेल चलता रहता है दोस्त / अभी सारी बाज़ियाँ और मोहरे उन्हीं के / उनके काँटे के प्रश्नचिह्न पर / इधर है केवल एक चीज़ और वो है प्रतिरोध!

कविता में कहन, प्रवाह, लय, बिम्ब प्रतीक, भाषा की लोच, शब्द संयोजन व कसावट, उसका आरोहन और इन सबके बीच एक सार्थक उद्देश्य आवश्यक काव्यतत्व होते हैं। आरती तिवारी की काव्य भाषा सरल है और शब्द सुबोध हैं। पूरे संग्रह में उनकी कोशिश है उनका विज़न स्पष्ट हो और वे जो कुछ कहना चाहती हैं वह हू-ब-हू उनके पाठकों तक पहुँचे बगैर किसी अवरोध के। इसलिए उन्होंने क्लिष्टता और सायास बौद्धिकता से दूरी बनाए रखने की कोशिश की है। लेकिन रह-रह करके उनका काव्य कौशल और सामर्थ्य सामने आ ही जाता है, जिसे वे प्रतीकात्मक तरीके से व्यक्त कर देती हैं और इसकी रुचि रखने वाले पाठकों व आलोचकों से लोहा मनवा लेती हैं।

चूँकि यह संग्रह एक स्त्री कवि की कविताओं का है, इसलिए इसमें स्त्री विमर्श की कविताओं की उपस्थिति लाज़िमी है। हरियाली तीज, गर्भ गृह के बाहर खड़ी स्त्री, चालीस पार की औरतें, वे कुछ स्त्रियाँ जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ इस संग्रह में शामिल हैं, जो स्त्री विमर्श को व्याख्यायित करती हैं। दरअसल यह दौर स्त्री विमर्श का है, जिसमें सदियों से दोयम दर्जे पर जी रही स्त्रियों को उनके स्थान पर आरूढ़ करने की पहल हो रही है। स्त्रियाँ स्वयं भी मुखर हो रही हैं और अपनी आवाज़ बुलंद कर रही हैं। यह एक सार्थक और अनिवार्य पहल है। कवयित्री की ये बेबाक पंक्तियाँ निस्संदेह सुंदर उदाहरण है : ...उसके रज से / देह में पनपा एक और जीवन / उसके गर्भाशय का कोटर / तुम्हारे बीज का अभेद कवच था ....

लेकिन इसके साथ साथ स्त्रियों के हरेक दु:ख दर्द के लिए पुरुषों को आरोपित किए का एक ट्रेंड भी ज़ोरों पर है। और इस विमर्श को स्वयं स्त्रियों के द्वारा ग्लैमरस बनाने का कृत्रिम प्रयास किया जा रहा है। इस मनोवृति की वजह से स्त्री विमर्श में ख़तरनाक तरीके से डायवर्शन भी उत्पन्न हुआ है, जिस पर कवियित्री का दृष्टिकोण स्पष्ट है : उनका स्त्री विमर्श / आर्थिक मज़बूती के लिए है / वे तनख़्वाह के रूप में पाई मोटी रकम बदल देती हैं / बड़े बैंक बैलेंस या खूबसूरत बंगले में ... .स्त्री सशक्तिकरण के लिए / सम्मानित होने जाती हुई / झटकती हैं बालों को / और गिर जाता है एक अदना सा विचार/ मूल्यहीन होकर / गाड़ियों के पहियों के साथ / फर्राटे से दौड़ता है / उनका स्त्री विमर्श।

कुल मिलाकर, ''तब तुम कहाँ थे ईश्वर'' की कविताएँ आश्वस्ति की कविताएँ हैं, जिनमें आशा और विश्वास का प्रस्फुटन है, जिनमें आह्लादित करने वाली किरणें हैं, जिनमें विचारों की लड़ियाँ हैं, जिनमें मनुष्यता को जीवित रखने वाली तपिश है, जिनमें प्रतिरोध के स्वर हैं, जिनमें जीवन में उम्मीद का अंकुरण है। हालाँकि ये कविताएँ सहज और सरल हैं, किन्तु इनमें मज़बूत काव्य चेतना है।

❑❑❑

कासिम बाज़ार,मुँगेर
(बिहार)- 811201
ईमेल : bijayguptayu@gmail.com
मोबाइल: 9934245300

पुस्तक समीक्षा
हरिप्रिया

समीक्षक : ऋतु भनोट
लेखक : कृष्णा अग्निहोत्री
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली

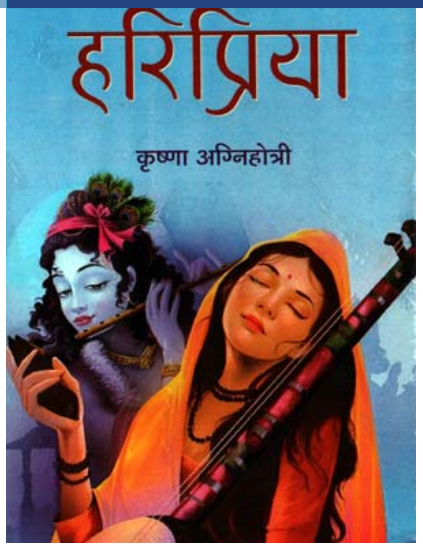

मीरा अपने अन्यतम प्रेम के बल पर हरि की प्रिया बन साधारण स्त्री से एक विशिष्ट महिला बनती है। अपनी जागृत अन्त:चेतना की रोशनी में स्त्री-पुरुष असामनता के दुर्ग को ध्वस्त करने की अलख जगाती हुई सती-प्रथा पर प्रश्न-चिह्न लगाती है, बहुपत्नीत्व को नकार स्त्री के अस्तित्व की पक्षधरता करती है और भक्ति मार्ग पर स्त्री होने के कारण आरोपित वर्जनाओं और प्रतिबंधों के खिलाफ़ विरोध दर्ज करती हुई घोषित करती है कि ईश्वर के मार्ग पर सब स्त्रियाँ हैं, पुरुष तो मात्र कृष्ण हैं। उनके इस उत्तर से बड़े-बड़े विद्वान भी निरुत्तर हो गए। ऐसी विलक्षण स्त्री-शक्ति को केन्द्रित करके हिन्दी की वरिष्ठ साहित्यकार कृष्णा अग्निहोत्री ने अपना नवीनतम उपन्यास लिखा है-हरिप्रिया! प्रस्तुत उपन्यास मीरा के प्रेम और भक्ति-भावना को एक अनदेखे और उपेक्षित कोण से बाँचता है। साधारणत: मीरा की भक्ति भावना और प्रेम का आरोपण कृष्ण पर करके उसे अलौकिक आभा से महिमामंडित करने की चेष्टा की जाती है। परंतु कृष्णा जी ने 'हरिप्रिया' में रूप गोस्वामी नामक एक परिचित परंतु मौलिक पात्र की उद्भावना करके मीरा के प्रेम को लौकिक आधार देने की चेष्टा की है क्योंकि मनुष्य के लिए साकार प्रेम-भावना को अनुभूत किए बिना किसी अदृश्य शक्ति के प्रति प्रेम की ऐसी लौ लगाना लगभग असंभव है। मीरा का आराध्य लौकिक है। एक साधारण योगी, जो उनके मन में प्रेम-अग्नि जलाकर चला गया। इसमें साधारण आकर्षण हो तो कोई अतिश्योक्ति नहीं।

मीरा के प्रेम का आधार भले ही लौकिक था परंतु शनै:-शनै: उन्होंने वैयक्तिक प्रेम का उदात्तीकरण करते हुए अपनी सारी भावनाओं को कृष्ण के प्रति मोड़ दिया। मन के निगूढ़ कोने में गहराई तक टीसती प्रेम की पीर को मीरा ने मर्यादा से भोगा, प्रेम के स्थूल रूप को संयम व सदाचार से सँजो कर उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति को कृष्ण में ढूँढ़ा, जो प्रेम मीरा को बदनाम कर सकता था, लोकोपवाद का पात्र बना सकता था, उसी प्रेम को मीरा ने ऐसा साधा कि वह प्रेम की अमर साधिका के रूप में युग-युगांतर तक अपनी छाप छोड़ने में सफल सिद्ध हुई। प्रेम का ऐसा उदात्त स्वरूप कि वह प्रेमी को ईश्वरतुल्य स्थापित कर दे और मन की लालसा को भक्ति में रूपातंरित कर दे, यह रूपांतरण सहज नहीं परंतु अभीप्सित तो है, ऐसी माँगलिक भावना का आरोहण करके मीरा एक साधारण प्रेम-विकल स्त्री की अपेक्षा स्त्री के स्वयं पर अधिकार की प्रथम समर्थक के रूप में उभर कर सामने आती है। उपन्यास की मूल कथा लगभग वैसी ही है जैसी कि लोक श्रुतियों अथवा मीरा पर लिखित पुस्तकों में प्रचलित है। लेखिका ने विवाहोपरांत मीरा की स्वतंत्र सोच की बानगी बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत की है। मीरा अपने पति के बहुपत्नीत्व को मन से त्याज्य मान स्वयं को पति के प्रति समर्पित नहीं कर पाती। पति की चारित्रिक दुर्बलताओं का खुल कर विरोध करती है, ससुराल पक्ष में प्रचलित आराध्य देव की अराधना को नकार कृष्ण की पूजा पर अडिग रहती है। सास, ननद और दूसरी रानियों के कटाक्ष उन्हें भीतर तक बेधते हैं परंतु ससुर मीरा के व्यक्तित्व की गहराई से परिचित हैं। पति का अहं कई बार इस हठीली नारी से आहत होता है परंतु वह उसकी आभा से अप्रभावित नहीं रह पाते, ग़लत जीवनशैली के कारण भोजराज असमय ही जब मृत्यु का ग्रास बन गए तो मीरा पर भी सती होने के लिए दबाव डाला गया। मीरा न तो डरी, न झुकी, अपितु निडर होकर सास से बोली, ''मैं तो अपने कृष्ण की पत्नी हूँ। मैं किसी अन्य के लिए सती नहीं होऊँगी। तुम्हारे बेटे को नौ पत्नी रखने पर लाज नहीं आई... न मेरा उनसे कोई रिश्ता नहीं था। सेविकाएँ सती नहीं होतीं।'' (हरिप्रिया, पृ. 47)

मीरा ने अपने आस-पास की कितनी ही दु:खिनी नारियों को सती होने से बचाया और इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध स्त्रियों में जागृति पैदा करने की कोशिश की। पति की मृत्यु के बाद मीरा ने घर त्याग दिया, वह मायके जाने हेतु भी प्रस्तुत न हुई। साथ में चिर संगिनी ललिता, न कोई सहारा, न पथ-प्रदर्शक, परंतु मीरा न तो अपने चुने हुए मार्ग से च्युत हुई, न ही बाधाओं से घबरा कर उन्होंने कोई गैर-ज़रूरी समझौता ही किया। मंदिरों में शरण ली, साधु-सत्संग किया, सामाजिक कुरीतियों पर अपने उपदेशों से प्रहार किया, कृष्ण की पूजा-अर्चना में निमग्न होकर प्रेम और भक्ति के पद गाए, अलमस्त होकर नाची, लेकिन स्त्री होने की बाध्यता को कभी मार्ग का अवरोध नहीं बनने दिया। उनके देवर ने कितने ही षड्यंत्र और कुचक्र चलाए, प्रलोभन देकर पथ-भ्रष्ट करना चाहा, उन्हें मौत के घाट उतारने की कोशिशें की गई, दैव-योग से वह हमेशा बच गईं परंतु इन घटनाओं से उनका मन सांसारिकता से उत्तरोत्तर विमुख होता गया। लोगों ने उन्हें कुलटा कहा, ढोंगी

समझा, स्त्री के नाम पर कलंक तक भी कहा, मीरा विचलित होती परंतु यह विचलन स्थाई नहीं था, स्थाई तो था केवल रूप गोस्वामी के प्रति प्रेम भाव जो त्याग और तपस्या की अग्नि में जल कर कृष्ण की भक्ति में तब्दील हो गया था। लेखिका के शब्दों में, ''मीरा जीवनपर्यंत कृष्ण विरह में तड़पीं या कहें साकार रूप गोस्वामी में कृष्ण ही ढूँढ़ती रही। वे सामने आए भी तो उन्हें कृष्ण से अलग कर नहीं देख सकीं। निराकार को भी लोग किसी-न-किसी माध्यम से पूजते हैं। मंदिर, मस्जिदों में खंगालते हैं। राम, कृष्ण, महावीर में ढूँढते हैं। यदि मीरा ने रूप गोस्वामी की मूर्ति में कृष्ण को पाया और वह भी संयम के उत्तम मार्ग से तो उसे क्यों किसी तराजू में तोलें।''

मीरा में न तो तपस्या की अतिवादिता थी, न त्याग का अत्यधिक आग्रह और न ही भोग के प्रति कुंठा, उन्होंने बुद्ध का मध्यम मार्ग अपनाया और प्रत्येक अति से परे जीवन में संतुलन बनाए रखा। मीरा ने रूप गोस्वामी के प्रेम के आधार पर स्वयं को गोपाल के चरणों में समर्पित कर दिया परंतु रूप गोस्वामी जीवन भर उनके लिए गोपाल रूप में ऐसे पुरुष रहे जो साथ न चलकर भी साथ थे, जिनके होने का सम्बल मीरा को तपती मरुभूमि पर नंगे पैरों सफ़र करने से डिगा नहीं पाया। मीरा ने अपने मन में उस शाश्वत भाव को सहेजा जिसमें स्थूल और भौतिक उपस्थिति के बिना भी प्रेम अंकुरित होता है, पल्लिवत, पोषित होता है, जिसमें द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं, जो देह के साथ आबद्ध नहीं, जो जीवन के पार भी साथ रहता है,.... भंगुर, नश्वर जीवन की एकमात्र शाश्वत्ता। उपन्यास में रूप गोस्वामी के चरित्र की महान संकल्पना उन्हें वैशिष्ट्य प्रदान करती है और साथ ही लौकिक प्रेम से आरंभ हुई इस भाव-यात्रा के अलौकिक धरातल पर आरूढ़ होने को जस्टीफाई भी करती है। रूप गोस्वामी का कथन, ''आत्मा से तुम्हारा यह प्रेम ही तो तुम्हें महान् बनाता है। यदि दैहिक कामना रहती तो तुम और कितने पत्थर खाती? लांछन सहती और राणाजी के द्वारा जेल में डाल दी जाती।'' (पृ. 155) सच ही तो है, जिस समय स्त्री को मनुष्य भी नहीं समझा जाता था, उस दौर में एक स्त्री का खुले मुँह पराए पुरुषों के साथ सत्संग-प्रवचन करना, कृष्ण की मूर्ति के आगे सुध-बुध भुला कर नाचना-गाना, पति के साथ सती होने से इनकार करना, स्वयं को कृष्ण की विवाहिता घोषित करना, घर-बार त्याग कर बंजारों जैसा जीवन जीना, भला इसे दुनिया या समाज दुस्साहस न कहता तो और क्या कहता? मीरा जैसी स्वतंत्रचेता स्त्री को किसी भी युग में पचाना समाज के लिए दुष्कर होता, क्योंकि स्त्रियाँ अनुगामिनी, पति की परछाई, नर्क का द्वार, हतबुद्धि तथा ताड़न की अधिकारिणी तो हो सकती हैं परंतु सवाल उठाने वाली, तर्क-वितर्क, गुण-दोष का विवेचन करने वाली तथा अपने निर्णय स्वयं लेने वाली स्त्री समाज में स्वीकृत नहीं हो सकती। ऐसे परिवेश में मीरा के लिए विषधर भुजंग अथवा ज़हर के प्याले की सौग़ात ही भेजी जा सकती थी, कैसी विडम्बना है कि ''पिछली नौ पीढ़ियों में किसी राजपूत ने दूर-दूर तक अपनी बेटी का नाम मीरा नहीं रखा। राजपूत अभी भी मीरा नाम पर फख्र नहीं करते, उससे शर्मिंदा ही होते हैं, मीरा अब तक उनके दिमाग में एक कुलांगार का नाम है, जिसने कुल-मर्यादा को धता बताई और अपनी शतरें पर ज़िन्दगी जी।''

'हरिप्रिया' उपन्यास मीरा को संवदेनशील, चेतना-सम्पन्न, स्त्री-अधिकारों की प्रवक्ता और जिजीविषा से ओत-प्रोत एक ऐसी साधारण स्त्री के रूप में चित्रित करता है जो अपने चारित्रिक गुणों के कारण एक असाधारण महिला बन कर इतिहास में ही नहीं, जन-मन में रच-बस गईं। प्रस्तुत उपन्यास का अंत भी कृष्णा जी ने अपनी मौलिक उद्भावना से पूर्णत: बदल दिया है। कृष्णा जी का मानना है कि मीरा को कृष्ण की मूर्ति में समाया हुआ दिखाना वास्तव में उनकी आत्महत्या की ओर इंगित करता है परंतु ऐसे जीवट वाली स्त्री कभी आत्महत्या नहीं कर सकती। इसलिए उपन्यास के अंत में मीरा लोगों की कटुक्तियों से आहत होकर जब आत्महत्या की बात करती है तो रूप गोस्वामी की प्रेरणा से जीवन का अंतिम भाग अज्ञातवास में जीने को तत्पर होती है। अज्ञातवास में गाँव वालों को धर्म और सदाचार का पाठ पढ़ाती मीरा कृष्ण की मूर्ति को हृदय से लगाए नश्वर देह को त्याग सदा-सदा के लिए कृष्ण की वैजयंती माला में जड़ गई। मीरा अपने अनन्य प्रेम के कारण हरिप्रिया बनी परंतु अपने पवित्र और मर्यादित आचरण ने उन्हें युगप्रिया बना दिया। मीरा की यह भविष्यवाणी सच हुई कि मीरा का कभी कोई मंदिर नहीं बनेगा क्योंकि वह तो कृष्ण में ही एकाकार हैं, जब उनका कृष्ण से इतर कोई अस्तित्व ही नहीं तो भला मूर्ति अथवा मंदिर से क्या प्रयोजन! कृष्णा जी ने इस प्रसंग को भिन्न कलेवर में प्रस्तुत किया है। हरिप्रिया में मीरा के मुख से निकले यह शब्द मानों स्त्री की शाश्वत नियति का ही प्रतिबिम्ब हैं, ''जो स्त्री क्रांतिकारी होती है, जिसके गुणों के सम्मुख पुरुष वर्ग को सिर झुकाना पड़ता है, वे उसे उल्लेखनीय या स्मरणीय नहीं बनने देते।'' (पृ. 161)

मीराबाई के जीवन पर आधारित कृष्णा अग्निहोत्री का उपन्यास 'हरिप्रिया' मीरा पर आधारित मात्र एक और कथाकृति नहीं है अपितु मीरा की वायवी, रहस्यवादी छवि को मानवीय गरिमा से अभिमंडित करके प्रेम के स्थूल स्वरूप की सीमित चारदीवारी को उदात्त प्रेम के आकाश में तब्दील करने की सार्थक पहल है। एक ऐसी पहल जो लौकिक प्रेम की अलौकिकता में सहज विश्वास भी जगाती है और मीरा के अस्पष्ट स्वरूप की धुँधली रेखाओं को एक निश्चित, ठोस आकार में ढाल कर उसे अधिक विश्वसनीय, आत्मीय और सांसारिक बनाती है। मीरा से संबंधित लोक-कथाओं और जन-श्रुतियों का अतिक्रमण करते हुए 'हरिप्रिया' मीरा के जीवन और व्यक्तित्व को एक नया आयाम प्रदान करता है, मीरा के प्रेम को काल्पनिक भावभूमि से नीचे उतार उसे मानवीय संवेदना का धरातल प्रदान करता है, इस धरातल पर पाँव जमा कर खड़ी मीरा हमें अपने अधिक निकट प्रतीत होती है, इतनी निकट कि उसके आदर्श को अपनाया जा सकता है, उसका अनुकरण किया जा सकता है और उसे युगों-युगों तक प्रेम के प्रतीकात्मक रूप में सँजोया जा सकता है।

❑❑❑

संपर्क-4485, दर्शन विहार, सेक्टर 68,
मोहाली, 160062
मोबाइल : 9915224922
ईमेल : ritubhanot.sagar@gmail.com

पुस्तक समीक्षा

आज़ादी का जश्न

समीक्षक : प्रभाशंकर उपाध्याय

लेखक : राजशेखर चौबे

प्रकाशक : नीरज बुक सेंटर, नई दिल्ली

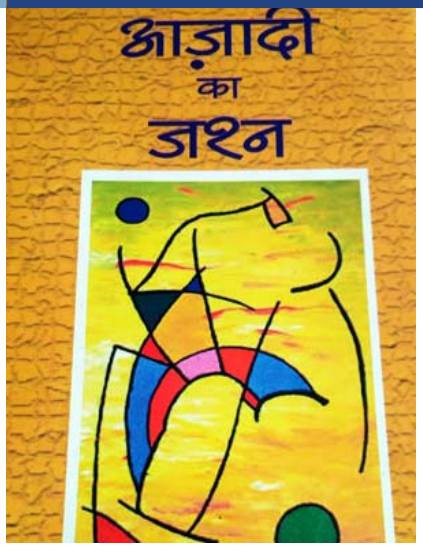

'आजादी का जश्न' श्री राजशेखर चौबे का का पहला व्यंग्य संग्रह है। कविता और कहानियाँ रचने के बाद उन्होंने व्यंग्य के क्षेत्र में पदार्पण किया है। उनकी शैली निबंधात्मक है। कथाकार श्री संजीव ठाकुर के अनुसार चौबेजी के लेखन में लयात्मकता के साथ आधुनिकता भी है।

समीक्ष्य कृति में 19 व्यंग्य हैं और सभी भिन्न भिन्न विषयों को छूते हैं। पहला व्यंग्य 'ज्योतिष की कुंजी' है। इस आलेख में ज्योतिषी के चार गुणों का वर्णन किया गया है-1. तारीफ करने की कला 2. फेंकने की कला 3. बेशर्म होना 4. कॉमनसेन्स का होना। इन गुणों को पढ़ते हुए मुझे उत्तर प्रदेश के एक नामी ज्योतिषी की पुरानी भविष्यवाणी याद हो आई। उस समय प्रदेश में विधानसभा चुनाव संपन्न हो चुके थे और अगला मुख्यमंत्री कौन होगा, इसकी अटकलें लगाई जा रही थीं कि श्री कमलापति त्रिपाठी अथवा श्री हेमवती नंदन बहुगुणा? उस ज्योतिषी ने एक अख़बार के जरिए भविष्यवाणी करते हुए घोषणा कर दी कि कमलापति ही आगामी मुख्यमंत्री होंगे। किन्तु जब परिणाम आया तो बहुगुणाजी मुख्यमंत्री बने। तब, कुछ पत्रकारों ने ज्योतिषाचार्य को घेरा कि आप जैसे प्रकांड की भविष्यवाणी ग़लत साबित हुई। आचार्य बोले, ''मेरी ज्योतिषिक गणना ग़लत नहीं बल्कि सौ प्रतिशत सही है। मुख्यमंत्री कमलापति ही बने हैं। चूँकि बहुगुणाजी की पत्नी का नाम कमला है, अतएव वे भी कमलापति ही हैं।'' ऐसे होते हैं ज्योतिषी, चित भी उनकी और पट भी।

इसी कला को ज्योतिषी इस व्यंग्य लेख में इस प्रकार बताता है- 'मैं छुटभैये नेताओं से कहता हूँ, आप पाँच वर्ष में मंत्री या किसी कॉरपोरेशन के चेयरमैन बन जाओगे। पाँच वर्ष बाद उनसे कह देता हूँ कि शनि या राहू-केतु बीच में आ गए।', 'अच्छे पहनावे वाले से कहता हूँ कि पाँच वर्ष बाद आपके पास बड़ी कार होगी। क्या पता उसके पास पहले से कार हो?'

'अच्छे दिन की आहट' में राजशेखर जी लिखते हैं कि ग़रीब के लिए बुरे दिन भी अच्छे हैं क्योंकि वह सोचता है कि इससे बुरे दिन भी न आएँ। अमीरों के लिए पहले भी अच्छे दिन थे, आज भी अच्छे दिन हैं और भविष्य में भी अच्छे दिन रहेंगे।' संकलन का तीसरा व्यंग्य 'डॉगी का फिटनेस ट्रेनर' है। इस लेख में कुत्ते की फिटनेस हेतु एक डिवाइस की चर्चा की गई है। यहाँ एक पंच देखिए- ''वाह री उन कुत्तों की किस्मत और मेरी कुत्ते जैसी किस्मत।'' एक आंग्ल कहावत है, ''इफ यू लव मी, लव माय डॉग।'' यह कहन तब सार्थक हो जाता है, जब हम चौबेजी के कुत्ता व्यंग्य का यह प्रसंग पढ़ते हैं- 'एक फैशनेबल महिला का हृष्ट-पुष्ट कुत्ता ट्रेन तथा प्लेटफार्म के बीच की जगह में फँसा और उसे कुछ जोशीले नौजवानों के सहयोग से बड़ी मशक्कत के बाद निकाला जा सका। वह महिला इतनी प्रसन्न हुई कि अपने पति को देखकर भी उतनी नहीं हुई होगी।'

'बधाइयों व शुभकामनाओं का मारा' व्यंग्य में यह पंक्ति दृष्टव्य है- 'लोग बढ़-चढ़कर बधाई दे रहे हैं। मैंने पूछा क्या आपको बी.पी.एल. का राशन कार्ड हाथ लग गया है और दो रुपये किलो चावल का मज़ा ले रहे हैं।'

'चीनी बंदी कानून-2020' इस संकलन के अच्छे व्यंग्यों में से एक है। चीनी बंदी आंदोलन की अवधारणा को साकार करते हुए व्यंग्यकार तंज़ करता है कि आगामी वर्षों में 'शक्कर बंदी आंदोलन' छोटे रूप से प्रारंभ होकर व्यापक हो जाएगा। तब सरकार को मजबूरन एक क़ानून बनाना पड़ेगा। उस क़ानून के पारित होने के पश्चात् छः से तीन साल तक की सज़ा अथवा एक हज़ार से दस हज़ार तक के जुर्माने का प्रावधान होगा। क़ानून बन जाने के बाद इस तरह का नज़ारा देखने का अवसर मिलेगा- पहला मित्र दूसरे से- ''इस दुकानवाले की ऊपर तक सेटिंग है। एक-एक रसगुल्ला दबाकर आते हैं। पकड़े जाने का कोई डर नहीं।''

दूसरा- ''पिछले हफ्ते यहीं से रसगुल्ला खाते पकड़ा गया था। पाँच सौ रुपये देकर ही जान छूटी।''

पहला- ''अच्छा चल एक एक गुलाबजामुन घर से खाकर चलते हैं, किसी को पता भी नहीं चलेगा।''

दूसरा- ''तुम्हें मालूम नहीं है, अगले चौराहे पर ट्रेफिक पुलिस वाला मीठा मापक यंत्र लेकर खड़ा है, तुरंत चालान कर देगा।''

इस संवाद के अलावा ये झलकियाँ भी दृष्टव्य हैं- 'अहमदाबाद बस में छापा मारकर छः गुलाबजामुन व आठ रसगुल्ले एक शातिर तस्कर से पकड़े परन्तु तस्कर मुँह में दो रसगुल्ले दबाकर भागने में कामयाब हो गया।' 'एक अफसर की बेटी की शादी में छापा मारकर, पुलिस ने दूल्हा-दुल्हन को गुलाबजामुन खाते रँगे हाथों पकड़ा।'

'धवल बाबा का अभ्युदय' भी आधुनिक 'बाबा कल्चर' पर अच्छा व्यंग्य है। इसमें विसंगति देखिए- 'मीडिया में प्रचार पर अधिक से अधिक खर्च कर आप अपनी मार्केट वैल्यू बढ़ा सकते हैं। मीडिया कितनी भी आलोचना करे, आपका विज्ञापन दिखाना बंद नहीं कर सकता। आख़िर उनकी रोज़ी-रोटी का सवाल है।' इस लेख में आगे राजशेखरजी गुरु शिष्य संवाद के जरिए अपनी लेखनी को गति देते हैं-

शिष्य, ''लेकिन मुझे तो मालूम नहीं है कि कृपा कैसे आएगी?''

गुरु, ''किसी पर कृपा आए चाहे न आए, तुम पर कृपा अवश्य आएगी।''

शिष्य, ''लेकिन इससे आपको क्या लाभ होगा?''

गुरु, ''मैं कृपा में से अपना हिस्सा पचास प्रतिशत लूँगा।''

शिष्य, ''इसके लिए मुझे मार्गदर्शन देते रहना। मेरी कुछ जिज्ञासाएँ हैं।''

गुरु, ''पूछो।''

शिष्य, ''क्या मैं सुख-शांति की बातें करूँ और लोगों को आत्मिक सुख शांति के बारे में बताऊँ?''

गुरु, ''बिल्कुल नहीं। तुम सिर्फ पैसों की बात करना। आज प्रत्येक व्यक्ति को पैसा चाहिए, सिर्फ पैसा। लोग सोचते हैं कि पैसा आ जाए तो सुख-शांति अपने आप आ जाएगी।''

शिष्य, ''क्या काला पर्स रखने से कृपा यानी पैसा आ जाएगा?''

गुरु, ''मूर्ख, काला पर्स या काले रंग से कृपा आती तो भैंस व हाथी हम मूर्खों की गुलामी नहीं करते।''

शिष्य, ''लेकिन यह कब तक चलेगा?''

गुरु, ''आजीवन देखते नहीं हज़ारों बाबा हैं लेकिन हर एक के दरबार में भीड़ लगी रहती है। मदिरालय और मल्टीप्लैक्स बंद हो सकते हैं, बाबाओं के दरबार नहीं।''

शिष्य, ''आपने मेरी आँखें खोल दीं। अब अंतिम प्रश्न, इस पुनीत कार्य के लिए आपने इस नाचीज़ को ही क्यों चुना?''

गुरु, ''क्योंकि तुम्हारी लच्छेदार बातों में आकर मैंने तुमसे कपड़े व ईंटें खरीदीं जो कि एकदम ख़राब निकलीं। तभी मैंने सोचा कि जो मुझे बेवकूफ बना सकता है, उसके सामने देश की भोली-भाली जनता की बिसात ही क्या है?''

अगले व्यंग्यालेख 'छत्तीसगढ़ का राज्योत्सव' की यह बानगी देखिए- 'राज्योत्सव के बहाने हम अपने राज्य की बुलंद तस्वीर देखते हैं और हमें भी भ्रम होने लगता है कि हम विकास की राह पर अग्रसर हैं। ''...इन्हें मालूम है कि सलमान के दर्शन का सौभाग्य केवल राज्योत्सव ही दिला सकता है।'

'आज़ादी का जश्न' समलैंगिकों के अदालती आदेश के परिप्रेक्ष्य में लिखी रचना है। इसकी ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं- '...समलैंगिकों के संबंधों को वैध बनाने के बाद क्या होगा...लोग अपने संबंधों को छिपाकर नहीं रखेंगे। लोग उन्हें हिकारत भरी निगाहों से नहीं देखेंगे। लड़कियों के छेड़छाड़ की कोई समस्या नहीं रहेगी। बेटी के बाप को अब जूते नहीं घिसने पड़ेंगे। वह मित्रों से कहेगा कि मेरी बेटी ने प्रिय सहेली से शादी कर मुझे उऋण कर दिया। शर्माजी शर्मिंदा होकर कहेंगे कि मेरे इंजीनियर बेटे ने एक लड़की से शादी कर मेरी पूरी इज़्ज़त मिट्टी में मिला दी। माता-पिता अपने बेटों से कहेंगे कि रात में किसी लड़के के घर मत रुकना, चाहे किसी लड़की के घर रुक जाना।'

'बायोमेट्रिक प्रवेश पद्यति पर चिंतन' में ये बानगी देखें- 'कार्यालय में अँगूठा लगाकर प्रवेश। यह जनता को फिर से अनपढ़ बनाने की साज़िश है। मैं अँगूठा लगाकर इस पर विरोध दर्ज कर रहा हूँ।' 'पंचिंग कार्ड होने पर लोग कहते थे कि घर में भूल गया था। अब, कोई यह नहीं कह सकता कि अँगूठा घर में भूल गया।'

अब, कमज़ोर रचनाओं की बातें 'भाई-भतीजावाद पर परिचर्चा' में परिचर्चा जैसा कुछ नहीं है। परिचर्चा में दो से अधिक व्यक्ति होते हैं, जबकि इसमें केवल दो लोगों के दरम्यान संवाद है। इस व्यंग्य की कुछ पंच लाइन अच्छी हैं किन्तु व्यक्तिश: (राजा, कनिमोझी, कलमाडी, करुणानिधि) नामों को उल्लेखित करने की बजाय, मेरा मानना यह है कि व्यंग्यकार को सांकेतिक भाषा का उपयोग करना चाहिए। यह लेख बहुत छोटा है और अपनी बात पूरी नहीं कह पाता। लेखक को वाक्य विन्यास पर भी ध्यान देना होगा यथा- 'नित नए-नए ख़बरों से हमारा सामना' की बजाय 'नित नए-नए समाचारों से....।' या 'नित नई-नई ख़बरों से...।' लिखना व्याकरण के दृष्टिकोण से उचित होता। चौबेजी के अन्य व्यंग्य 'डिमेंशिया', 'लंगूरों की जमात' और 'गंजों की दुनिया' इसी प्रकार के व्यंग्य हैं। गंजों की दुनिया में सलमान खान के गाए गाने- 'कुड़ियों का है ज़माना...' से 'गंजों का है ज़माना...।' को तब्दील कर देने की बात कुछ जमी नहीं। यह बात व्यंग्य के वज़न को हल्का कर देती है। 'डिमेंशिया' में अनेक राजनेताओं के नामों के सीधे उल्लेख से बचा जा सकता था।

'काश मैं छोटा होता' व्यंग्य लेख छोटा न होकर अनावश्यक रूप से बड़ा है और इस प्रकार अपने प्रभाव को खो देता है। 'चमचागिरी- एक शाश्वत सत्य' में चाटुकारिता के कुछ उदाहरण भी दे दिए जाते तो अच्छा होता।

पुस्तक में छपाई और व्याकरण की ग़लतियाँ हैं। प्रूफ रीडिंग सावधानी से होती तो यह न होता। 'लाईफ', गाईड-लाईन', 'बदस्तुर', 'ओर', 'आनलाईन' 'बाईक' 'हे' आदि अनेक शब्द हैं जिन्हें सुधारा जाना चाहिए। 'स्वर्गारोहण' नामक आलेख में 'गुलाल का सिर्फ एक टीका लगा था' वाक्य में 'सिर्फ' शब्द अनावश्यक है। 'एक टीका' या 'सिर्फ टीका' से काम चल जाता। इसी तरह 'काश मैं छोटा होता' में 'लेकिन शायद' के स्थान पर 'शायद' शब्द की शायद आवश्यकता नहीं थी। 'छत्तीसगढ़ का राज्योत्सव' में 'हमारे जंगलों बची-खुची पर अब उनका नहीं' वाक्य में तारतम्यता नहीं है। यह वाक्य इस प्रकार लिखा जाना चाहिए- 'हमारे बचे-खुचे जंगलों पर अब....।' बहरहाल, व्यंग्य संग्रह 'आज़ादी का जश्न' एक पठनीय कृति है। यह राजशेखर जी की पहली किताब है अत: लेखक से उम्मीद है कि इन कमज़ोरियों पर निजात पाकर भविष्य में बेहतर लिखेंगे। पुस्तक का कलेवर और आवरण सुंदर है।

❑❑❑

193, महाराणा प्रताप कॉलोनी,
सवाईमाधोपुर (राज.) पिन-322001
मोबाइल : 9414045857
ईमेल:prabhashankarupadhyay@gmail.com

पुस्तक समीक्षा
चारों ओर कुहासा है

समीक्षक : डॉ. अजय अनुपम
लेखक : रघुवीर शर्मा
प्रकाशक : शिवना प्रकाशन, सीहोर, मप्र

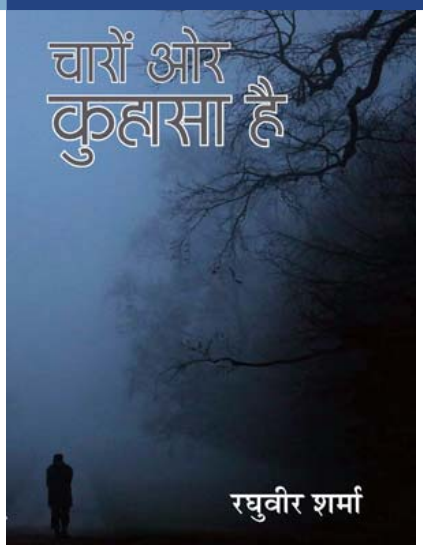

शब्द बोलचाल की भाषा में अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने का माध्यम है। वही शब्द जब कविता में होते है तब उन शब्दों में ही कविता होती है। भावनात्मक रूप में अनुभूति जब समकालीन बिखरावों, अनुबन्धों और संभावनाओं के बीच से उत्पन्न रस को मन में तपा देती है, तब लोक-मंगल की कामना कविता, आलेख या गीत बनकर बह निकलती है।

भारत का लोकतंत्र कभी तंत्र के सामने झुककर नहीं खड़ा हुआ, अपितु राजतंत्रों के नायक के चयन की ज़िम्मेदारी भी लोक प्रतिनिधियों की ही रही है। वर्तमान लोकतंत्र जिस सामन्तवाद से विकसित हुआ है उसमें लोक का स्वर अनसुना और उपेक्षित रहा है। रघुवीर शर्मा का रचना संसार इसी को प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही लोक का राग तन्त्र से उत्पन्न नीति को पराजित करने का सामर्थ्य रखता है- कोलतार की सड़कों पर हम / कब तक नंगे पाँव चलें / इससे तो अच्छा है भैया वापस अपने गाँव चलें।

बढ़ता शहरीकरण और पीछे छूटती प्राकृतिक परिवेश में रची-बसी ग्राम जीवन की अपनी रसवन्ती परम्परा के प्रति वापस लौटने का आग्रह।

पानीदार जीवन के भैया / अपने सारे दाँव गले।

किसी से शिकायत किये बिना अन्तर्वेदना को सबके सामने रखना वह भी उस समाज में जहाँ चोरी और थानेदारी दोनों में निर्लज्जता सीमाएँ लाँघ रही है। सामान्य व्यक्ति अपने दुख या कुंठा को गीत में उतारता है किन्तु रघुवीर शर्मा ईमानदारी की कसम उठाकर बेईमानी की दलदल में उतरते हुए लोगों की भीड़ में सत्य के दीपक को जलाए रखते हैं -

आँखों में ईमान बचाकर / भूखे पेट बहुत रोया हूँ / सरी साँझ मत आना सपनों / पलक हिले दुख होता है

आज के संवेदनहीन समय में मोबाइल, टी.वी. और लेपटाप ने संबंधों से स्नेह की ऊर्जा छीनकर आभासी दुनिया के दर्पण की चकाचौंध फैला दी है। उत्सव, मेले, विवाह सब में रस्म अदाई है ऐसे में- घर का अँधियारा बढ़ता है ज़्यादा / घटता है कम / कवि कह उठता है - अपना फ़लक / उड़ानें अपनी / लालतूस में कहीं बाँधकर / इनको रख दो भोले।

कविता गायन ही नहीं मार्गदर्शन भी है किन्तु यह निस्वार्थ और निरपेक्ष दृष्टि से ही संभव है। संवेदनशीलता कम है परन्तु यह कविता का स्वर्णयुग है जब लोक के जागरण की ज़रूरत होती है तभी कविता की ज़रूरत होती है। आज सहनशीलता का स्थान क्रोध ने ले लिया है हम स्वयं भी जल रहे हैं - संवादों में युद्धों की भाषाएँ होती है..... / अँधे हाथों में रथ की वल्गाएँ होती है

एक समुद्र मंथन कवि के भीतर चलता रहता है, वह कह उठता है - खलिहानों में, महाजनों के डर-संशय घुस आए हैं / पंचायत का मुखिया तक तो बिका हुआ है।

व्यवस्था पर सीधी चोट करने में भी कवि निरपेक्ष हो जाता है - यह समय है या हथेली पर रखी अंगार है। / दिन सुलगते प्रश्न का ही सघनतम विस्तार है।

रचनाएँ भीतर से मन को खरोंच देती हैं, इसका दोषी कौन है, कवि उसे संकेत में कहता भी है और समझता भी है- बिन बुलाए / धूप तपते हुए दिन लौट आए / वृक्ष का व्यवहार कितना हो गया रुखा / प्यास भड़की पर नदी का कंठ है सूखा / द्वार आए / छाँह के सपने पसीने से नहाए।

यह गीत नहीं - प्रकृति के मानवीयकरण के साथ संवेदनहीनता की पराकाष्ठा का काव्य में कायान्तरण है। भविष्य का चित्रण हमें सजग करता है-

शंख सीपियाँ / ऊँची लहरें / सब आदिम उपहार / मृगशावक / हंसों के जोड़े / पीपल छायादार / चर्चा में है / बीते दिन की / ऐसी दन्तकथाएँ।

मनुष्यता पर विश्वास ही हमारी संस्कृति का जीवन-शक्ति है -

हम जंगल के / किन्तु अभी तक / शहरों जैसे / हिंसक नहीं हुए हैं / भीतर पाले घने अँधेरे / बाहर उजले चिंतक नहीं हुए हैं/ पी जाते हैं महुए के संग / दिन के सभी विषादों को / अपना एक सरीखा अमृत और गरल होता है।

नई राजनीतिक-दिशा में बदलता हुआ समाज कवि को चिंतित करता है- साधो, यह जग महाबली का / नए-नए आदर सम्बोधन / सीखो नया सलीक़ा। / हम कठपुतली और समय / तागा उसकी उँगली का।

'चारों ओर कुहासा है' समकालीन समाज का दर्पण है। सामाजिकता की कम होती मिठास और उसके प्रति सजगता कवि का कथ्य है। कवि सत्ता के अनाचार के सामने निरीह होकर नहीं

अपितु सतर्क-दृढ़ता की मशाल लेकर खड़ा है- हुक्म करे सरकार, हमें अब क्या-क्या करना है / एक घोंसला बचा इसे क्या तिनका-तिनका करना है।

निजी सुख से ऊपर भी कुछ है, जो दर्शन-चिन्तन में रहता है, रघुवीर शर्मा की पंक्तियाँ - थक गया सीढ़ियों सा मन / चुपचाप लेटे / सर्द आहें, अश्रुओं के पदचाप छोटे बन गये हैं, हम दिवस के कोपभाजन।

यह भौतिकता की अगली सीढ़ी है- हमारी परम्परा की पहचान भी।

सरल शब्द, सहज भाषा में आम आदमी का दर्द, प्रकृति के दोहन के साथ आधुनिकता की अंधी दौड़ में पीछे छूटता गाँव-घर का मांगलिक परिवेश, हर बात रघुवीर शर्मा की रचनाएँ, सिंहासन बत्तीसी की कठपुतलियों की तरह हमें समझा देती हैं।

प्रेम की अभिव्यक्ति में याद-तुम्हारी याद, गंध का अनुवाद यह पावनता निश्छल मन में ही प्राप्त होती है। 'ग्लोबल विलेज' के युग में घर आज भी मानव को मानव बनाए रखता है-परम्परा और संस्कृति की रक्षा हमें जीवन देती है।

लालतूस, गंगाझारी, तोलास्ती-मासा, तपता गर्वीला माथ दुक्खम-सुक्खम, सिनगारी जैसे शब्द रचनाओं में प्राण संचार करते है समय के स्त्री विमर्श जैसे तीखे प्रश्न ''नदी में मछलिया व्याकुल रही हैं'' ''उर्वर वसुधा के निष्फल प्रयास'' जैसे शब्दों में उभरते हैं। आश्वासन की जलकुंभी नया सार्थक मुहावरा है।

रघुवीर शर्मा कल्पनाजीवी रचनाकार नहीं है। अनुभव से समृद्ध रचनाएँ उन्हें समकालीन रचनाकारों की सभा में सहज ही अग्रिम पंक्ति में स्थापित करती हैं।

''चारों ओर कुहासा है'' पहला प्रकाशित संकलन है। किन्तु इसकी सभी 53 रचनाएँ जनमानस को प्रकाशित करने में सफल रही हैं। ''हरसूद की डूब-दो रचनाएँ'' व्यक्ति स्नेह बन्धन का सशक्त प्रमाण है। लोकभावना को सशक्त करने वाली इस कृति की भावना में ही साहित्यिक जगत् इनका निश्चित रूप से स्वागत भी करेगा और सम्मान भी।

❐❐❐

विश्रान्ति 47, श्रीराम विहार कचहरी,
मुरादाबाद-244001 (उ.प्र.)

पुस्तक चर्चा

नई मधुशाला

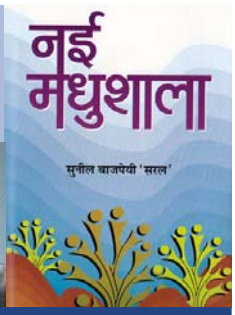

समीक्षक : अशोक अंजुम
लेखक: सुनील बाजपेयी 'सरल'
प्रकाशक: प्रभात प्रकाशन

बच्चन जी ने जब अपनी 'मधुशाला' से भाव और विचारों की 'हाला' छलकाई तो पीने वाले मदहोश हो गए। ऐसी 'हाला' कि जितना चखो, नशा और... और बढ़े... बढ़ता ही जाए। तब बच्चन जी की ज़मीन को लेकर तमाम कवियों ने अपनी 'मधुशाला' रच दी। यह अलग बात है कि बच्चन जी की वह ज़मीन भी उमर ख़य्याम से 'ईंट-गारा' लिए हुए थी किंतु 'नक्शा' अपना था, उसकी 'भव्यता' और कथ्यगत ऊँचाईयाँ मौलिक थीं... अनछुई! 'नई मधुशाला' के सर्जक सुनील बाजपेई 'सरल' की 'नई मधुशाला' भी इस मायने में वाकई नई है। अपने उपनाम 'सरल' के अनुरूप जीवन-जगत् के तमाम दृश्यों को सरलता से 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' के रूपक में बाँधकर श्री सरल ने पाठकों के समक्ष परोसा है।

'नई मधुशाला' की प्रस्तावना लोकप्रिय कवि अशोक चक्रधर ने लिखी है और खूब डूबकर मन से लिखी है। वे कहते हैं- 'नई मधुशाला' के पाठक वृंद, यहाँ आपने बच्चन के माध्यम से यह जाना होगा कि प्रतीक कुल मिलाकर तीन हैं- एक हाला, एक प्याला, एक मधुशाला। इन्हीं तीन प्रतीकों में सृष्टि के कितने अंतर्विरोधी तत्वों का संघर्ष, समन्वय, आमना- सामना और आवाजाही मुमकिन है। न्यूनतम में अधिकतम अभिव्यक्ति की संभावना रखने वाले यह प्रतीक कभी न मरने वाले प्रतीक हैं।'

सुनील की मधुशाला में 10 ब्रांडों की हाला है- यूँ कि 10 अध्यायों में बँटी 'मधुशाला' के ब्रांड हैं- संबंध, शृंगार, भारत, जीवन, संसार, दर्शन, लक्ष्य, नीति, भक्ति और विविध। इस प्रकार अलग-अलग अध्यायों में बाँट कर इस 'नई मधुशाला' को सजाने-सँवारने का उद्देश्य यही रहा है कि पाठक एक ही भाव भूमि पर रचित मधु छंदों का रस एक साथ ले सकें। पुस्तक के पहले अध्याय 'संबंध' के प्रथम छन्द से ही प्रमाणित हो जाता है कि इस 'मधुशाला' में बेशक़ीमती 'हाला' छलकने जा रही है। संबंधों की इस 'हाला' में माता-पिता के साथ बेटी, मित्र, शिक्षक आदि अवस्थित हैं। अध्याय-2 'शृंगार' पर केंद्रित है, जिसमें केवल आठ छन्द हैं। इसके अतिरिक्त अध्याय-9 'भक्ति' पर केंद्रित है जिसमें मात्र सात छन्द हैं। ये दोनों ही कृति के सबसे छोटे अध्याय हैं। सर्वाधिक छन्दों वाला अध्याय 8 नीति पर केंद्रित है, जिसमें 57 छन्द सरल ने रचे हैं। जीवन की गहन अनुभूतियाँ इस खंड में साकार हुई हैं और प्रमाणित किया है कि इस क्षेत्र में सरल की पकड़ अधिक मज़बूत है।

अध्याय 4 जीवन पर केंद्रित है, जिसमें 42 छंद संग्रहीत हैं। पुस्तक के कुछ अध्यायों का कथ्यगत साम्य के चलते आपस में विलय भी किया जा सकता था। सुनील बाजपेई 'सरल' ने इन 200 से अधिक 'मधु छंदों' की रचना में बड़े संयम से काम लिया है, कहीं कोई हड़बड़ी नहीं। कुछ छंद तो अपने कसाव में, रचाव में अद्भुत बन पड़े हैं। बहरहाल इस 'नई मधुशाला' की छलकती 'हाला' का भरपूर रस लेना है तो पाठकों को भी हड़बड़ी की जगह संयम से काम लेना होगा। अनाड़ियों की तरह 'गट-गट' पीने की बजाय बूँद-बूँद चखिए और दूर तक, देर तक मस्ती में डूबे रहिए।

❐❐❐

सम्पादक: 'अभिनव प्रयास' स्ट्रीट-2, चन्द्रविहार कॉलोनी, नगला डालचन्द
अलीगढ़-202001उप्र, मोबाइल : 9258779744
ईमेल : ashokanjumaligarh@gmail.com

पुस्तक समीक्षा

भास्कर राव इंजीनियर

समीक्षक : घनश्याम मैथिल 'अमृत'

लेखक : अरुण अर्णव खरे

प्रकाशक : लोकोदय प्रकाशन, लखनऊ

सुपरिचित रचनाकार अरुण अर्णव खरे साहित्य की लगभग सभी विधाओं में सृजनरत हैं, और हाल ही में उनका कहानी सँग्रह 'भास्कर राव इंजीनियर' प्रकाशित हो कर पाठकों के सम्मुख आया है। उनके इस कहानी संग्रह में विविध विषयी 14 कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन कहानियों से गुज़रते वक़्त पाठकों को लगेगा कि वह ऐसी घटनाओं, कहानियों अथवा पात्रों को कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अपने समाज, अपने आस-पास देख चुका है। अरुण जी की यह कहानियाँ निश्चित ही उनके जीवनानुभव से उपजी हैं, इसलिए पाठक को इनमें गहरे यथार्थ-बोध का अनुभव होता है। इन कहानियों में उनके पेशे इंजीनियरिंग का भी प्रभाव, यानी इंजीनियरिंग की पढ़ाई, कोचिंग, एंट्रेंस एग्ज़ाम, दफ्तर की कार्य-प्रणाली आदि सहज रूप से कहानी का हिस्सा बनते हैं। उनकी कहानियाँ आज के समाज की तमाम चिन्ताओं को प्रकट करते हुए, पाठक की संवेदना को झकझोरने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। वरिष्ठ साहित्यकार भालचंद्र जोशी ने अपनी भूमिका में लिखा भी है - 'अरुण अर्णव खरे की इन कहानियों को पढ़ते हुए भाषा की संवेदन-ऊष्मा और भावनात्मक विश्वसनीयता के लिए श्रम करते एक ज़िम्मेदार लेखक के सामाजिक सरोकार भी स्पष्ट होते हैं।'

सँग्रह की प्रथम कहानी 'दूसरा राज महर्षि' आज के उस कटु यथार्थ से हमारा परिचय करवाती है, जिसमें माँ-बाप अपने बच्चों पर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का बोझ डाल देते हैं, और जीवन में प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा, सफलता के लिए बच्चों पर भारी दबाव डालते हैं, जिसके कारण बच्चे डिप्रेशन सहित कई समस्याओं का शिकार होकर कहीं के नहीं रहते। 'भास्कर राव इंजीनियर' सँग्रह की शीर्षक कहानी है। इंजीनियरिंग की वर्षों तक परीक्षा पास न करने वाला भास्कर राव एक भला व्यक्ति दूसरों की सदैव मदद करने वाला, अपने गाँव में बिजली की चिन्ता करने वाला, जुनून का पक्का, अंततः इंजीनियरिंग की डिग्री हासिल कर लेता है, कहानी पाठक के हृदय को छू जाती है। 'देवता' कहानी आदमी के दोगलेपन को उजागर करती महत्त्वपूर्ण कहानी है। अच्छे-ख़ासे होनहार लड़के सूरज को साहब निरंजन उनके विभाग में बाबू की नौकरी लगवा देते हैं, उनका खुद का बेटा पढ़ने में फिसड्डी है, फिर भी उसे डोनेशन देकर इंजीनियरिंग करवाते हैं, पत्नी एवम बेटी के विरोध करने पर उनका यह कहना कि पढ़ लिख कर सब अफसर बन जाएँगे तो हमारे घर काम कौन करेगा। कहानी बड़ी मार्मिक बन पड़ी है। 'कौवे' कहानी हमारे समाज में फैले अन्धविश्वास को लेकर बुनी गई है, अगर किसी के सिर पर कौवा बैठ जाए तो उसकी मृत्यु की ख़बर रिश्तेदारों को भेज कर, इसके अपशकुन से बचा जा सकता है। 'दीपदान' बच्चों के खेल-खेल में आँखों की रोशनी चले जाने पर कथा नायक अपने आपको जीवन भर अपराधी मानता है, और अंततः अपनी आँखों को दान कर स्वयं मौत को गले लगा लेता है। 'आफ़रीन' हिन्दू-मुस्लिम प्रेम विवाह की बेजोड़ कहानी है, किस प्रकार कट्टर ब्राह्मण मिसेज रचना त्रिवेदी को उनकी बहू अपने सौम्य व्यवहार से अंततः अपना बना लेती है। 'समरसता' आज आरक्षण की बहुत बड़ी विसंगति पर एक प्रश्न चिह्न छोड़ती हुई कहानी है, कैसे एक ही समाज के दो परिवारों को सरकार की असंगत नीति के कारण, एक को लाभ और दूसरे को हानि झेलना पड़ती है। 'स्टेन्ट' कहानी चिकित्सा जैसे समाज सेवा के धर्म को डॉक्टरों ने पैसा कमाने का घिनौना पेशा बना लिया है, जहाँ आपके विश्वास का कैसे निर्ममता पूर्वक खून किया जा रहा है, पाठक पढ़ कर तिलमिला उठता है। 'सलामी' गुमनामी में मरने वाले खिलाड़ी की कहानी है, जो अपना जीवन दूसरे की ख़ातिर होम कर देता है। 'पुरस्कार' कहानी किस प्रकार सफलता के बाद हम अपने गुरु और मार्गदर्शक को भूल सफलता का श्रेय किसी और को देने की भूल कर बैठते हैं को लेकर लिखी गई है। 'मकान' सँग्रह की अंतिम कहानी है, जिसमें बताया गया है कैसे आज की पीढ़ी पैकेज और दौलत की चकाचौंध में अपने घर, परिवार और नाते-रिश्ते सब कुछ भुला कर अपने ही सीमित, स्वार्थी संसार में जीना चाहते हैं।

इस प्रकार इस सँग्रह की सभी कहानियाँ पठनीय हैं, जो पाठक को शुरू से अंत तक बाँधे रहती हैं। कहानियों की भाषा सहज - सरल है। कहीं-कहीं प्रूफ संबंधी दोष खटकते हैं, कृति का आवरण आकर्षक और मुद्रण साफ-सुथरा है। प्रकाशक और लेखक दोनों को इस महत्त्वपूर्ण कहानी सँग्रह हेतु बहुत बहुत बधाई।

❐❐❐

प्रणाम, जी / एल 434, फेज़ 2, अयोध्या नगर बायपास, भोपाल 462041 मप्र, मोबाइल : 9589251250

पुस्तक समीक्षा

सच कुछ और था

समीक्षक : डॉ. सीमा शर्मा

लेखक : सुधा ओम ढींगरा

प्रकाशक : शिवना प्रकाशन, सीहोर, मप्र

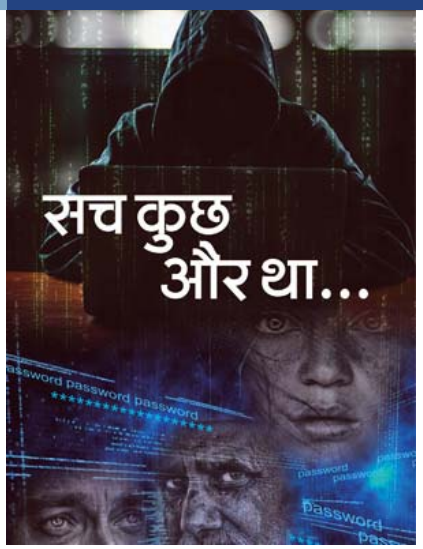

सुधा ओम ढींगरा जी का कहानी संग्रह 'सच कुछ और था' पढ़ रही थी तो उसके अन्त में दी गई अन्य विद्वानों की प्रतिक्रियाओं को पढ़ना भी स्वाभाविक ही था। इन्हीं के बीच सुविख्यात लेखिका सूर्यबाला जी की एक टिप्पणी भी सम्मिलित थी, जिसकी एक उक्ति 'इस सादगी के सदक़े' मन को भा गई। साभार इसका प्रयोग शीर्षक के रूप में कर रही हूँ। सुधा जी की रचनाओं की यह सादगी, उनके लेखन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आपकी कहानी उपन्यास और कविता आदि सभी रचनाओं में यह विशेषता देखने को मिलती है, स्वाभाविक-सी बात है कि समीक्ष्य संग्रह भी इससे अछूता नहीं है। इस संग्रह में कुल ग्यारह कहानियाँ हैं। क्रमशः इस प्रकार हैं - 'अनुगूँज', 'उसकी खुशबू', 'सच कुछ और था', 'पासवर्ड', 'तलाश जारी है', 'विकल्प', 'विष-बीज', 'काश ऐसा होता...', 'क्यों ब्याही परदेश', 'और आँसू टपकते रहे' तथा 'बेघर सच'।

संग्रह की प्रथम कहानी 'अनुगूँज' में सुधा जी ने एक ऐसी समस्या का उठाया है जिससे, हम प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिचित हैं। एक विशेष वर्ग की स्वयं विदेश जाने की चाह व अपनी बेटियों को अप्रवासियों के साथ ब्याहने की वाँछा इतनी बलवती होती है कि इसके नकारात्मक परिणामों पर या तो ध्यान ही नहीं जाता या सोचना नहीं चाहते। विदेश के नाम पर सब कुछ सुनहरा-सा दिखाई देता है। ऐसा नहीं है कि लोग इस तरह की सच्चाइयों से अनभिज्ञ हैं किन्तु वे अपने नाम पर इतने आशावादी हो जाते हैं कि उनके साथ तो कुछ अनुचित हो ही नहीं सकता। 'अनुगूँज' कहानी की नायिका 'मनप्रीत' के माध्यम से लेखिका ने इस प्रश्न को उठाया है- ''बिना सोचे-समझे विदेश के लालच में उसे अजनबी परिवार के हवाले कर दिया। यह भी नहीं सोचा बेटी का जीवन जिस परिवार से जुड़ा है, उनके बारे में छानबीन कर लें। शादी में ससुराल वाले कितने सभ्य और सुसंस्कृत लग रहे थे पर यहाँ आकर...'' मनप्रीत मात्र इस कहानी की पात्र नहीं रह जाती है उसका साधारणीकरण हो जाता है उस समूचे वर्ग के रूप में जो विदेश में ब्याह दी गई, लेकिन उनकी सुध लेने वाला कोई नहीं है। मनप्रीत के मन में पीड़ा है। वह जब भी अपने माता-पिता को फ़ोन करती है, कोई उससे यह नहीं पूछता मनप्रीत तुम कैसी हो? तुम्हारे ससुराल वाले कैसे हैं? तुम्हें वहाँ कोई कष्ट तो नहीं।'' वरन् वे अपने सपने पूरे करना चाहते हैं। उसके माता -पिता एक ही बात कहते हैं 'मन, तुम वहाँ सेट हो जाओ, फिर हमें बुलाना' मनप्रीत के माध्यम से लेखिका ने एक समूचे वर्ग की वेदना को पाठकों के समक्ष रखा है। विदेश गमन स्टेट्स सिंबल बन गया है। तभी तो मनप्रीत कहती है ''विदेश जाने की इतनी ललक क्यों है देशवासियों की?'' सुधा जी ने अपने उपन्यास 'नक़्क़शीदार कैबिनेट' में भी इस समस्या के विभिन्न पहलुओं को पाठकों के समक्ष उजागर करने का प्रयास किया है।

शान्त स्वभाव की स्वामिनी मनप्रीत की मनोदशा उस समय बदल जाती है जब उसकी जेठानी गुरमीत जिसे, वह बड़ी बहन की तरह चाहने लगी थी, जेठ द्वारा उसकी हत्या कर दी जाती है। 'अपनी आँखों के सामने उसे इस तरह जाते देख, भयंकर तूफ़ान उखड़े, टूटे वृक्ष सा वह स्वयं को महसूस कर रही थी।' तथाकथित परिजनों के अन्याय के विरुद्ध खड़े होना एक स्त्री के लिए बहुत दुष्कर होता है क्योंकि इसमें सबसे बड़ा डर 'घर' छूटने का होता है। यह मनप्रीत भी जानती है, ''उसकी ज़ुबान खुल गई तो उसे इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी, परदेश में उसका घर छूट जाएगा।'' और वह यह भी जानती है कि नहीं बोली तो जी नहीं पाएगी।'' 'अनुगूँज' कहानी का सकारात्मक पक्ष यह है कि यहाँ नायिका के मस्तिष्क की नहीं आत्मा की जीत होती है। और वह सच्ची और सही घटना को ही न्यायालय के समक्ष रखती है। इससे डरी-सहमी मनप्रीत के स्थान पर साहसी मनप्रीत का उदय होता है।

प्रस्तुत संग्रह की नौंवीं कहानी ''क्यों ब्याही परेदश....'' को 'अनुगूँज' कहानी के पूर्व भाग के रूप में भी देखा जा सकता है। कहानी की नायिका गुड़िया अपनी माँ को लिखे पत्र के माध्यम से अपने संघर्ष, उलझन और टकराव को प्रकट करती है- ''मेरे लिए तो विशेष अन्तर और होड़ दो देशों के परिवेश का है। दो संस्कृतियों के मूल्यों में सामंजस्य का, अजनबी देश और अजनबी लोगों में स्वयं की पहचान और अस्तित्व को बचाए रखने का प्रयत्न है। यहाँ हर मोर्चे पर तैनात नितांत अकेली खड़ी हूँ मैं।'' इस तरह की अनुभूति को दूर बैठकर समझना मुश्किल है, इसके लिए तो स्वयं की अनुभूति या किसी संवेदनशील मन के अनुभव आवश्यक हैं।

'बेघर सच' कहानी में सुधा जी ने स्त्री मन के मर्म को समझने का प्रयत्न किया है। स्त्री के मन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए एक स्त्री का प्रयास अधिक सफल हो सकता है क्योंकि वही जान

सकती है कि 'उसके भीतर क्या टूटता है क्या जुड़ता है, क्या पनपता है, क्या बिखरता है क्या फैलता है और उसकी सोच कहाँ-कहाँ की यात्राएँ करती है।' एक स्त्री के लिए 'घर' सबसे बड़ा और उलझा हुआ प्रश्न है, जिसे सुलझाने में न जाने कितनी पीढ़ियाँ निकल गईं और कितनी और निकल जाएँगी लेकिन यह प्रश्न जस का तस बना हुआ है। सुधा जी भी इस प्रश्न को अपनी रचनाओं में बार-बार उठाती है। ''तिनका-तिनका चुन कर नर-मादा नीड़ बनाते हैं, फिर वह नीड़ सिर्फ़ नर का कैसे हो सकता है? मादा का अधिकार उस पर क्यों नहीं रहता। युगों से तो यही होता आया है.... नारी घर की रानी, अधिकार तेरे पानी।'' एक स्त्री का जीवन तो जन्म से लेकर मृत्यु तक केवल घर की तलाश बन कर रह जाता है। पिता के घर में बड़ी आसानी से कह दिया जाता है 'पराए घर की अमानत है, अपने घर में चाहे जो करना' इसी प्रकार कथाकथित अपने घर यानि पति के घर पर 'यह तेरे बाप का घर नहीं है।' कहना भी उतना ही सामान्य है। कथानायिका और उसका माँ भी अपने कहे जाने वाले घरों में अस्तित्व को बचाए रखने का बहुत प्रयत्न करती हैं किन्तु संभव नहीं हो पाता।

'और आँसू टपकते रहे....' एक ऐसी कहानी जो संदेश देती है भले आपकी कोई ग़लती न हो लेकिन समय पर आपका सच न बोलना या कोई साहसिक कदम न उठाना, भले कारण कोई भी हो, आपको बड़े संकट में डाल सकता है। समय निकल जाने पर स्थितियों को बदला नहीं जा सकता इससे केवल पछतावा और अपराधबोध उत्पन्न होगा। 'काश! ऐसा होता' एक छोटी और सकारात्मक सी कहानी है जो स्त्री और पुरुष के लिए अलग मानदण्डों का विरोध करती है। और संदेश देती है ''स्त्री हो या पुरुष सबके भीतर एक सी चेतना है और सभी पहले इन्सान है उसके बाद कुछ और।'' यह कहानी वृद्धावस्था में होने वाले अकेलेपन को बहुत मार्मिक ढंग से चित्रित करती है और वृद्धावस्था में होने वाले अकेलेपन से बचाने के लिए वृद्ध विवाह को एक विकल्प के रूप में रखती है। इसी प्रकार लेखिका ने 'विकल्प' कहानी में नैतिक व अनैतिक कहे जाने वाले विषय को यथार्थरूप में पाठक के समक्ष रखा है और स्वयं कोई निर्णय न देकर इसे पाठक के विवेक पर छोड़ा है कि वो इसे चाहे जिस रूप में देखे।

एक ओर तो इस संग्रह में 'अनुगूँज' और 'क्यों ब्याही परदेश....' जैसी कहानियाँ हैं जहाँ परदेश में कई स्त्रियाँ गम्भीर समस्याओं का सामना कर रही हैं तो वहीं 'पासवर्ड' जैसी कहानी भी है जहाँ तन्वी एक अप्रवासी भारतीय से इसलिए विवाह करती है क्योंकि वह अपने पति को सीढ़ी बनाकर अपने सपने पूरे करना चाहती है। इसके लिए वह सभी मानवीय संवेदनाओं से परे सभी नैतिक बन्धनों को तोड़ती दिखाई देती है। यहाँ लेखिका ने स्त्री चेतना की आड़ लेकर आने वाली विसंगति की ओर संकेत किया है।

'उसकी खुशबू' एक स्त्री के बदले की कहानी है। जूली के भारतीय प्रेमी के द्वारा विवाह से इन्कार किया जाना उसे एक तरह से उसे मनोरोगी बना देता है, इसीलिए वह अपने पूर्व प्रेमी जैसे दिखने वाले प्रत्येक भारतीय नौजवान को समाप्त कर देना चाहती है। उसके शरीर से आने वाली इत्र की तीखी गंध उसके हिंसक मनोवेग की प्रतीक बन जाती है। किसी एक अप्रिय घटना के घटने से मानव इतना विध्वंसक बन जाए ऐसा होना सामान्य बात तो है नहीं। किसी एक व्यक्ति के अपराध की सज़ा हर किसी को नहीं दी जा सकती है किन्तु अपवादों को भी नकारा नहीं जा सकता है। सुधा जी की कहानियाँ मानवीय संबंधों को हर कोण से देखती हैं। उनकी यह दृष्टि केवल बाहरी नहीं है, वे कहानी में जैसे परत-दर-परत छुपी तहों को खोलती चलती हैं। प्रस्तुत संग्रह की प्रतिनिधि कहानी में 'सच कुछ और था....' में इस विशिष्टता को बखूबी देखा जा सकता है। कहानी को बाहर से देखने पर पता चलता है कि पत्नी ने पति को मार डाला। किसी को मार डालना कोई हँसी-खेल नहीं है। लेखिका ने इस कहानी को बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखा है। मारने वाले की मनोदशा और मरने वाले का व्यवहार। जिसने एक बहुत साधारण और संवेदनशील व्यक्ति को हत्यारा बना दिया। इस सबके बीच उसने कितनी पीड़ा झेली होगी। ऊपर से बहुत अच्छा दिखने वाला महेन्द्र दोहरी मानसिकता और दोहरे चरित्र वाला व्यक्ति है। उसके हर कदम के पीछे मंतव्य कुछ और ही रहता था। एक ऐसे व्यक्ति के साथ रहना जो दिखे कुछ और हो कुछ और, कितना मुश्किल होगा। बहुत अधिक कठिनाई झेलने के बाद इंसान की सहनशक्ति चुक जाती है और वह कितना भी कठोर निर्णय कर सकता है। ऐसा ही कुछ लिंडा के साथ रहा होगा।

'सच कुछ और था...' कहानी पत्रकारिता में व्याप्त उथलेपन पर भी चोट करती हैं। विवाद पैदा करने की प्रवृत्ति कई बार विकृति की सीमा तक जाती है। हम सभी इस सच से भली-भाँति परिचित है। प्रस्तुत कहानी का एक अंश जो इस सच्चाई को उजागर करता है- ''आप ज़रूर किसी देशी चैनल की होंगी, जो भारतीय पति कहकर बार-बार जोर दे रही हैं ताकि कॉन्ट्रोवर्सी पैदा हो। पति-पत्नी सिर्फ पति-पत्नी होते हैं। उनमें कोई नस्ल भेद नहीं होता, जैसा कि आप कहकर पैदा कर रही हैं..... एक अमेरिकन पत्नी ने भारतीय पति को मार डाला।'' इसे तो मात्र एक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि इससे कहीं अधिक विकृति पत्रकारिता दिखाई देती है, विशेषकर टेलीविज़न पत्रकारिता में।

'विष-बीज' एक मनोविश्लेषणात्मक कहानी है। प्रस्तुत कहानी में लेखिका ने एक ऐसे पात्र को गढ़ा है जिसका बचपन बहुत नारकीय रहा। उसके ऐसे कष्टप्रद जीवन के लिए उसके परिजनों से लेकर कई सामाजिक संस्थाएँ व अन्य लोग ज़िम्मेदार थे। इन सब कठिनाइयों से जूझकर जब वो बड़ा हुआ तो वह स्वयं कुंठित व्यक्तित्व और मनोरोगी बन गया। लेखिका ने कहानी के इस पात्र के संवादों के माध्यम से उसके मन और मस्तिष्क की तहों को खोला है जिसके कारण यह कहानी बहुत विश्वसनीय बन गई है। बलात्कार जैसे दुष्कृत्य के पीछे छिपी पुरुष वर्चस्व की मानसिकता को भी इस कहानी में देखा जा सकता है- ''बलात्कार'' ही ऐसा शस्त्र है, जिसके भय से समस्त नारी जगत् को दबाकर रखा जा सकता है।'' ''बलात्कारियों और अपराधियों का कोई नाम नहीं होता। यह विकृत मानसिकता है, जो हर देश, हर

शहर, हर गाँव, हर घर, हर गली, हर कूचे में मिलेगी। इस मानसिकता के शिकार कई बार बहुत अपने भी होते हैं, बाप, भाई, चाचा, ताऊ, दूर-करीब के रिश्तेदार कोई भी हो सकता है, जिन्हें पहचानना मुश्किल होता है। पराए तो भीड़ का हिस्सा हैं। इस बीमार निडर सोच का अंत होना चाहिए। यह प्रवृत्ति महामारी सी पूरे विश्व में फैल रही है और अब तो शिकार होने लगी हैं अबोध बच्चियाँ।'' लेखिका ने, अपराधी पात्र के माध्यम से बहुत कठोर - दण्ड का सुझाव इस कहानी में दिया है- ''मैं बलात्कारी हूँ और अपने कृत्य पर शर्मिन्दा हूँ। चाहता हूँ कड़ी सज़ा मिले और सज़ा में मेरा लिंग काट दिया जाए। एक लिंग कटेगा तो सौ लिंग सतर्क हो जाएँगे। यह ज़रूरी है। ज़हर का बीज वृक्ष बनने से पहले ही दब जाएगा।'' किन्तु यह आसान नहीं है ''पितृसत्ता इस निर्णय पर अपनी मुहर नहीं लगाएगी? और फिर मानवाधिकार वाले अपना झंडा अलग फहराएँगे। मानवीय अधिकारों के हनन की बात करेंगे।''' विष-बीज' कहानी, कहानी न रहकर एक केस हिस्ट्री बन गई है जो पाठक के मन को झकझोर कर रख देती है। 'सच कुछ और था...' कहानी संग्रह की सभी कहानियाँ बहुत विचारोत्तेजक हैं इनका उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर 'शिवेतर क्षतये' की भावना है। सुधा ओम ढींगरा न केवल समाज के कटु यथार्थ को पाठकों के सामने लाती हैं वरन् समस्याओं के समाधान पर भी वे ध्यान देती हैं। उनके लिए जीवन मूल्य महत्त्वपूर्ण हैं, फिर कहानी के पात्र चाहे किसी परिवेश के क्यों न हों। जीवन में सब कुछ स्वयं के अनुभवों से नहीं सीखा जा सकता है ऐसे में साहित्य की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। सुधा जी का साहित्य एक प्रकार से मार्गदर्शक की भूमिका में दिखाई देता है। वे अपनी रचनाओं में किसी प्रकार के पांडित्य का प्रदर्शन न करके सादगी से अपनी बात कहती है। यही कारण है कि उनकी भाषा और शैली की सरलता और सहजता मोहती है।

❑❑❑

एल-235, शास्त्रीनगर, मेरठ (उ.प्र.)
मोबाइल: 9457034271
ईमेल : sseema561@gmail.com

पुस्तक चर्चा

कितना कारावास

समीक्षक : राजेंद्र मोहन भटनागर
लेखक : मुरलीधर वैष्णव
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन

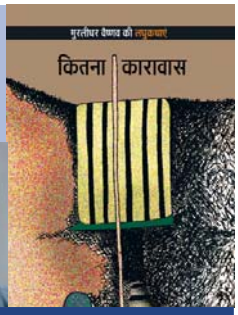

''कितना कारावास'' मुरलीधर वैष्णव का दूसरा पचहत्तर लघुकथाओं का संग्रह है। लघुकथा में किसी घटना के क्षणांश या विचार की सूक्ष्म व घनीभूत अभिव्यक्ति ही उसे श्रेष्ठता प्रदान करती है। 'कितना कारावास' को उस या जिस दृष्टिकोण से भी परखें, जाँचें, निष्कर्ष यही निकलता है कि वैष्णव का यह योगदान निस्संदेह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और इनमें अनेक कालजयी लघुकथाएँ हैं, यथा - 'कारोबार', 'कितना कारावास', 'मौताणा', 'आर्डर आर्डर', 'चुग्गा', 'गांधारी', 'पेंशनर', 'पागल' इत्यादि। वैष्णव के लेखन की शक्ति और गहराई है कि मुझे इनमें से अनेक कथाओं को कई बार पढ़ना और इन पर सोचना पड़ा कि उन्होंने अपने समय के बंद और जकड़े हुए उन दरवाज़ों पर दस्तक दी, जिनमें क़ैद, कीचड़, खुजैली और तमाम आधुनिक प्रचार तंत्र द्वारा गिनाई गई उपलब्धियों के उपरांत सड़े अंधकार की बिखरती परछाइयाँ कुलबुला रही हैं तथा अपने समय को आईना दिखा रही हैं कि 'तू वह नहीं है जो दिखता बताया जा रहा है, तू वो है जो इन लघुकथाओं के द्वारा सामने आया है।'

कोई वैष्णव के ज़ेहन (दिल) में झाँक कर देखे कि एक क़ानून का (अपने समय का न्यायाधीश) क्यों कुलबुला उठा है और क्यों इन कथाओं को लेकर समाज के सामने आया है? उसे साहित्य लिखना नहीं, ज़िन्दगी लिख कर बतानी है, ताकि याद रहे कि सच्चाई का रखवाला हक़ीक़त में अपने समय को कैसे आँकता हैं और क्यों उठाता है 'कितना कारावास', 'पागल', 'ऑर्डर-ऑर्डर', 'न्याय तंत्र', 'मौताणा', 'हरी तख़्ती', 'सवाब', 'नोटिस', 'लाक्क अदालत', 'आईना', 'तीसरी मौत', 'पशुत्व', 'बिजूका या चौकीदार', 'कतार', 'मेरा भारत महान', 'परख', 'मन... रे गा' प्रभृति के यक्ष प्रश्न? वैष्णव की भाषा शैली इंसानियत की देन हैं। कसम हैं उस इंसानियत में ठेठ गाँव में नमक-मिरच के छोंक की जो उन्होंने 'परख' में 'हजूर मैं नीं बोल्यौ, म्हनै कीं नीं मालूम' ग्रामीण से कहलवा कर लगाया। आपकी भाषा समय, पात्र और विषय के साथ सदा बहार नदी के प्रवाह की याद दिलाती है। आपकी भाषा में व्यंग्य भी अति प्रभावी है।

इन लघुकथाओं को पढ़कर यह कहा जा सकता है कि 'गीता', 'कुरान', 'बाइबल', जिंद, अवेस्था से इतर का समय भी अपने को रेखाँकित करना चाह रहा है और बताना चाहता है कि वह क्या है, कैसे है, और क्यों है। वैष्णव ने तटस्थ भाव से सरल भाषा में इन कथाओं में उसे बखूबी उबारा है। इन लघुकथाओं से सन्नाटा टूटने की उम्मीद जगती है। ये कथाएँ जीवन को सीधे ही अंर्तदृष्टि तो प्रदान करती ही है साथ ही आत्ममंथन की ताकत व हौसला भी प्रदान करती है। अपने समय की मूक तस्वीरों को जीवंत करने में भी कथाकार सफल रहा है। उसके लिए 'कितना कारावास' पढ़ देखना चाहिए और जान लेना चाहिए कि ईमानदार साहित्यकार जब अपने समय से संवाद उठाता है तो दुनिया की सारी अदालतें चाहें बंद हो जाएँ परन्तु उसकी अदालत चलती मिलेगी और अपने समय के जन मन को हाज़िर नाज़िर मानकर फैसला सुना रही होगी। लगभग वही फ़ैसला सुनाने का कार्य वैष्णव ने 'कितना कारावास' संग्रह में करने का प्रयास किया है। निस्संदेह हिंदी के लघुकथा साहित्य को इस संग्रह ने न केवल समृद्ध ही किया है प्रत्युत उसे अंर्तदृष्टि भी दी है।

❑❑❑

105,सेक्टर 9-ए, हिरण मगरी, उदयपुर-313002, मोबाइल : 9887757123

नाटक समीक्षा
राजा की रसोई

समीक्षक : प्रज्ञा

लेखक : रमेश उपाध्याय

प्रकाशक : उत्तरगाथा (सांप्रदायिकता विरोधी अंक), जनवरी-अप्रैल 82

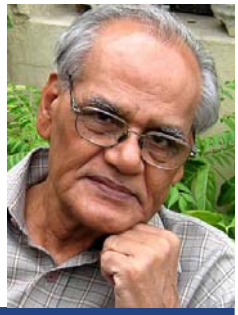

जनवादी नुक्कड़ नाटक व्यक्तिवादी और कलावादी चेतना से निर्मित हुई कला की शुद्धतावादी अवधारणा के विरोध में प्रतिबद्धता और जनपक्षधरता को रंगकर्म के लिए ज़रूरी मानते हैं। यही कारण है कि जनवादी नुक्कड़ नाटकों की आस्था, रचना की सोद्देश्यता में, सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में व्यक्त होती है। यह नाटक आम आदमी के जीवन की छोटी-बड़ी समस्याओं को समाज, देश और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्लेषित करके जनतांत्रिक और मानवीय अधिकारों का हनन करने वाली शक्तियों को सामने लाते हैं। सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के प्रति संघर्षरत यह नाटक जनता के वास्तविक जनवाद की दिशा में सक्रिय हैं।

नुक्कड़ नाटक आंदोलन का आरंभ आठवें दशक में हुआ। यह वो समय था जब शासकवर्गीय तानाशाही प्रवृत्ति जनता के अधिकारों का हनन कर रही थी। इसी समय नुक्कड़ नाटक जनाधिकारों की लड़ाई लड़ने, आंदोलनात्मक रूप में सामने आए। इन नाटकों ने प्रतिपक्ष की राजनीति तैयार करने में सहयोग किया और अनेक प्रयास किए। सत्ता और प्रशासन की क्रूरताओं का सामना करते हुए इन नाटकों ने अपनी यात्रा को ख़त्म नहीं होने दिया। जनवादी चेतना से संपन्न इन नाटकों ने देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थितियों को परखा। इन नाटकों को लिखने और खेलने वालों ने जनविरोधी नीतियों के स्वरूप को पहचाना। जनवाद की आड़ में जनवाद विरोधी गतिविधियों को बढ़ावा देने वाली सत्ता, उसके सहयोगी पूँजीपतियों और नव साम्राज्यवाद के विरुद्ध नुक्कड़ रंगकर्मियों ने आवाज़ उठाई। इन नाटकों के माध्यम से न केवल सत्ता की अनीतियों को आम आदमी समझ पाया; बल्कि समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व पर आधारित, एक शोषणविहीन समाज निर्मित करने की इच्छा भी उसके मन में जागी।

हिंदी की जनवादी धारा के आंरभिक नुक्कड़ नाटककारों में रमेश उपाध्याय के नाटकों ने अपनी ख़ास पहचान बनाई। मौलिक नाटकों के अतिरिक्त देशी-विदेशी कहानियों के नाट्यरूपांतर भी उन्होंने किए। एंटन चेखव की कहानी 'कैमेलियन' का उनका बेहद चर्चित रूपांतर 'गिरगिट' और जयशंकर प्रसाद का 'मधुआ' उसी कड़ी में जुड़ते हैं। यों रमेश जी ने मंचीय नाटक भी लिखे जो अपनी प्रस्तुतियों में सराहे गए। 'पेपरवेट','भारत भाग्य विधाता','बच्चों की अदालत' ऐसे ही नाटक हैं। 'राजा की रसोई','हरिजन दहन','तमाशा','हाथी डोले गाँव-गाँव' आदि नाटकों के रचयिता रमेश उपाध्याय का नुक्कड़ नाटक 'राजा की रसोई' किन अर्थों में एक महत्त्वपूर्ण नाटक है, आइए देखते हैं।

राजा की रसोई

'राजा की रसोई' नुक्कड़ नाटक का आरंभ नाट्य-मंडली द्वारा गाए एक समूह-गान से होता है। इस गान में हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सभी धर्मों के लोग धर्म की माया, उसके सांप्रदायिक रूप और उसके पीछे छिपी अमानवीय शक्तियों की सांकेतिक चर्चा करते हैं।

''देखो-देखो रे भाई धरम-करम की माया
इसने भाई का भाई से कैसे गला कटवाया''1

समूह-गान के पश्चात् चार रसोइए जो धर्मानुसार अपनी वेश-भूषाओं में और रसोइया दिखने के लिए मैले और काले एप्रेन बाँधे हुए हैं, भोजन बनाने का मूक अभिनय करते हैं। अभिनय के लिए निर्धारित घेरे से ही उनका काम (पेशा) दर्शकों को समझ में आ जाता है। चारों विपरीत दिशाओं में खड़े होकर काम करते हुए अभिनय स्थल को रसोई जैसा बना देते हैं। रसोई के बाहर राजा के अंगरक्षक, पहरेदार बनकर खड़े होते हैं। पात्रों के मूक अभिनय के साथ ही सूत्रधार आता है और नाटक के लेखक का नाम बताते हुए नाटक के विषय में संक्षिप्त जानकारी देता है। वह नाटक के पात्रों के विषय में दर्शकों को बताता है।

सूत्रधार कहता है यह रसोई जिस राजा की है, वह धर्मनिरपेक्ष है। उसे खाना बनाने वालों से नहीं खाने से मतलब है। वह खुद खाता है और यार-दोस्तों, नौकर-चाकर, लेखक-कलाकार, गुण्डों-पण्डों सभी को खिलाता है। हर प्रकार के भोजन का लुत्फ़ उठाने के लिए उसने पंडित जी, मुल्लाजी, सरदारजी और तरह-तरह के विलायती खाने बनाने के लिए मिस्टर जॉन सेवक को रसोइयों के रूप में नियुक्त किया है। ये लोग अनुभवी हैं और लज़ीज़ खाने बनाकर राजा और उसके लोगों को खिलाते हैं और खुद रूखा-सूखा भोजन करते हैं। सूत्रधार, भारतमाई नामक एक पात्र की सूचना भी देता है जो काफी दिनों से इन चारों से मिलने आया करती है।

भारतमाई बदहाल हालत में एक थाली छाती से लगाए सहमी-सी प्रवेश करती है। पहरेदार उसे डपटते हैं पर चारों रसोइए प्रेमपूर्वक उसे बुलाते-बिठाते हैं। उससे काम और घर के बारे में पूछताछ करते हैं। काम न मिल पाने की स्थिति में ये चारों अपने हिस्से की एक-एक रोटी बचाकर और भारतमाई को देकर उसकी मदद करते हैं। बातचीत के दौरान चारों अपनी बुरी हालत का ज़िक्र करते हैं। पैसा कम, काम ज़्यादा और ऊपर से दूसरी और मुसीबतें उनके जीवन की कठिनाइयाँ हैं। भारतमाई थकी-हारी बातें सुनकर उन्हें याद दिलाती है कि आज़ादी की लड़ाई में उसके बेटों ने अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाई और मारे गए, जबकि इन चारों ने

उनका साथ न देकर दूसरा ही रास्ता अपनाया। चारों उस ऐतिहासिक भूल को स्वीकारते हैं कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष में उन्होंने राजा और नवाब साहब का साथ दिया। ये साथ जिस वादे की बुनियाद पर दिया गया था वह भी आगे चलकर झूठा सिद्ध हुआ। वादा किया गया था कि अंग्रेज़ के कब्ज़े से रसोई छूटते ही चारों रसोइयों को इसका मालिक बना दिया जाएगा। रसोई छूटी तो किचेन का पार्टीशन ही हो गया और चारों को कोई अधिकार नहीं मिला। भारतमाई चारों को प्रेरित करती है कि अपनी-अपनी शिकायतें खुलकर राजा के सामने रखें। सभी इसे एकमत से स्वीकारते हैं।

राजा रसोई का मुआयना करने आता है तो रसोइए विनम्रता से अपने अधिकारों की बात करते हैं। राजा बड़ी ही धूर्तता के साथ समस्या के समाधान की दिशा को धर्म की ओर मोड़ देता है। वह कहता है कि आप रसोई में इतने व्यस्त रहते हैं कि पूजा-पाठ का समय ही नहीं मिलता इसीलिए आप परेशान हैं। इसका इलाज है कि रसोई के हर कोने में छोटा-सा मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और चर्च बनवाया जाए जिसका खर्चा आप लोगों के वेतन से काटा जाए।

राजा के इस समाधान का सभी विरोध करते हैं और जॉन साहब स्ट्राइक की बात कहते ही गिरफ़्तार कर लिए जाते हैं। गान-मंडली फिर से अभिनय-स्थल पर आकर गाती है:

''सहे जाओ, सहे जाओ सहे जाओ भैया
मिलेगी अठन्नी न मिलेगा रुपैया''2

गीत के फौरन बाद मिस्टर जॉन की तरह दिखने वाला एक नया रसोइया मिस्टर फॉरेन वैस्टर्न नए अंदाज़ में आता है। तीन रसोइए उसे अपना साथी समझकर दौड़ पड़ते हैं। वे जल्दी ही समझ जाते हैं कि ये जॉन का हमशक्ल है जॉन नहीं। वह स्वयं को हैड कुक बताता है। हिंदुस्तानियों को असभ्य कहता हुआ क्रिश्चियन लोगों की सभ्यता की तारीफ करता है। खुद को माइनॉरिटी का नेता बताता है। तीनों रसोइयों द्वारा उसे अपनी रसोइया बिरादरी में शामिल करने की बात पर वह अपने धर्म को श्रेष्ठ बताते हुए उनके धर्मांतरण की बात भी करता है। इस बीच मुल्ला जी, यूनियन बनाकर हड़ताल की बात करते हैं और क़ैद कर लिए जाते हैं। मि.वैस्टर्न हड़ताल की बात न करने के लिए कहता है पर उसे अनसुनी करके पंडितजी और सरदारजी हताश हो जाते हैं। वैस्टर्न पाइप सुलगाता है और दोनों उदास मुद्रा में फ्रीज़ हो जाते हैं। गान-मंडली गाती है :

''भाड़ फोड़े कैसे अकेला चना
कुछ करना है भैया तो संगठन बना''3

गीत के बाद मुल्लाजी की शक्ल और वैस्टर्न के दिमाग़ को लेकर ग़ुलामअली आते हैं। इनकी नियुक्ति जान-पहचान से शाही बाबर्ची के रूप में की जाती है। ग़ुलामअली भी अल्पसंख्यकों के नेता और सांप्रदायिक दंगे करवाने में माहिर हस्ती हैं। रसोई में दो गुट बन जाते हैं। एक पंडित जी और सरदार जी का, दूसरा वैस्टर्न और ग़ुलामअली का। दोनों की सोच एकदम भिन्न। ग़ुलामअली और वैस्टर्न की उग्र धार्मिक बातों और धर्मांतरण की तरफ़दारी का पंडित जी और सरदार जी विरोध करते हैं। राजा के अन्याय के विरुद्ध वे भी हड़ताल कर डालते हैं। परिणाम ये होता है कि उन दोनों को भी सलाखों के पीछे डाल दिया जाता है।

चारों के चले जाने के बाद खाना बनाने की ज़िम्मेदारी वैस्टर्न और ग़ुलामअली पर आती है। दोनों ही अपने को श्रेष्ठ मानकर नेताई मद में चूर रहते हैं। दोनों ही काम करना नहीं जानते। गान-मंडली फिर गाती है :

''नया इंतज़ाम देखो नया इंतज़ाम
सब नेता बने अब कौन करे काम...
रोटी है न चावल न कलाकंद है
राजा मरे भूखा तो बोले राम-राम''4

इतने में पंडित जी की सूरत में नेकरदास और सरदारजी की सूरत में किरपानसिंह आते हैं। ये हिंदू राष्ट्र और खालसा की जय गाते हैं। वैस्टर्न और ग़ुलामअली खुश होते हैं कि अब ये काम सँभालेंगे परंतु वे भी आते ही अपने-अपने धर्म, नेतागिरी और छुआछूत का राग अलापते हैं। चारों लड़ते हैं कि रसोई में सिर्फ उनका ही धर्म-स्थल बनेगा। सूत्रधार, रेडियो अनांउसर की तरह समाचार सुनाता है कि कैसे रसोई में दंगा, आगजनी, तोड़-फोड़ हुई। राजा ने दंगों को दुर्भाग्यपूर्ण बताया। समाचार के बाद गान-मंडली 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' गीत गाती है।

राजा रसोई का निरीक्षण करने फिर आता है। खाना न मिल पाने का कष्ट उसे सताता है और वो रसोइयों को कर्त्तव्य-निष्ठा की याद दिलाता है। देशभक्ति और राष्ट्रीय एकता के नाम पर रसोइयों को चेताता है। यहाँ तक कि पूजा-स्थलों के लिए उनके वेतन के न काटे जाने की बात करता है। परंतु चारों रसोइए फिर झगड़ पड़ते हैं। तब भारतमाई के श्रम के जरिए अपनी भूख के इंतज़ाम की तरकीब राजा के दिमाग में आती है।

राजा के जाने के बाद चारों रसोइए अपनी श्रेष्ठता बताते हुए अपने धर्म के मुताबिक खाना पकवाने के लिए भारतमाई की खींचतान शुरू कर देते हैं। एक रस्साकशी के खेल का दृश्य बन जाता है। भारतमाई अपनी हालत पर तरस खाने के लिए कहती है। वह पुरानी धोती के फट जाने और अपनी लाज की बात कहती है। इस पर चारों अट्टहास करते हैं। भारतमाई उत्तेजित होकर सबको झटक देती है और लताड़ती है। अपने उन बेटों का स्मरण करती है जो उसकी बेहतरी के लिए शहीद हो गए। वे कहती है उसके बेटे फिर आएँगे। इस पर क्रुद्ध रसोइए हाथों के खूँखार पंजे बनाकर भारतमाई की ओर बढ़ते हैं। दृश्य स्थिर हो जाता है और गान-मंडली गाती है : ''बोलो-बोलो रे भाई, कौन है भारतमाई?

धरम-करम के हाथों जिसकी ऐसी हुई खिंचाई''5

दर्शकों से पूछे गए इस सवाल के साथ ही यह नाटक समाप्त हो जाता है।

एक प्रतीकात्मक नाटक

'राजा की रसोई' नुक्कड़ नाटक की कथा मूल्य-व्यवस्था के विस्थापन की कथा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद सांप्रदायिक सद्भाव और सभी धर्मों के प्रति आदर की भावना रखने वाली व्यवस्था को सत्ता द्वारा विस्थापित कर दिया गया। इसके पीछे यह उद्देश्य रहा कि जनता द्वारा देखे गए सपने, सपने ही रह जाएँ। उसकी आशाएँ और आकांक्षाएँ मूर्त न हो पाएँ, उसके अधिकारों और उनके लिए उठने वाली आवाज़ को दबा दिया जाए। प्रेमचंद ने ऐसे स्वराज की कल्पना की थी जहाँ 'जॉन की जगह गोंविद

न बैठे' यानी औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के बाद सत्ता के वर्ग-चरित्र में बदलाव आना ज़रूरी था। परंतु आम जनता ने पाया कि आजादी के बाद सत्ता का वर्ग-चरित्र नहीं बदला और न ही उनकी स्थिति में कोई बदलाव आया।

यह नाटक आरंभ से ही प्रतीकात्मक है। इसके पात्र, स्थितियाँ और घटनाएँ भी प्रतीकात्मक हैं। रसोई देश का प्रतीक है, राजा सत्ता का प्रतीक है। पंडित जी, मुल्ला जी, सरदार जी और जॉन सेवक जहाँ हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई धर्मों के प्रतीक हैं उसीके साथ ये सभी श्रमजीवी वर्ग के भी प्रतीक हैं। साथ ही आज़ादी की लड़ाई में छली गई जनता का भी प्रतीक हैं। भारतमाई, भारतीय लोकतंत्र की आत्मा और जनता की आशाओं-आकांक्षाओं का प्रतीक है। जो आज़ाद भारत में भी दुर्दशा को अभिशप्त है। पहरेदार सत्ता पक्ष से नाभिनालबद्ध वर्ग के प्रतीक हैं। भाई नेकरदास, ग़ुलामअली, किरपानसिंह और मिस्टर फॉरेन वैस्टर्न रसोई रूपी भारत देश का बँटवारा करने वाली ताकतों द्वारा पोषित और पनपाए गईं कट्टर सांप्रदायिक शक्तियों के प्रतीक हैं।

नाटक के आरंभ में ही राजा को धर्मनिरपेक्ष बताया गया है। इनका राजा बड़ा सेक्यूलर है। माने धर्मनिरपेक्ष राजा जिसे खाने से मतलब है, खाना बनाने वालों से नहीं। ''खुद खाता है, अपने यारों-दोस्तों को खिलाता है। उसके यार-दोस्त हैं देसी और विलायती सेठ साहूकार, रसूख वाले ज़मींदार और सरमाएदार। उसके नौकर-चाकर हैं मंत्री और अफसर, जज और पत्रकार, लेखक और कलाकार, पुलिस और फौज, गार्ड और गुन्डे, पहलवान और मुस्टंडे, मौलवी और पंडे।''6

सूत्रधार के इस कथन में जिस धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग है उसे यदि पूरे नाटक के संदर्भ में देखें तो इस शब्द के पीछे छिपी व्यंग्यात्मक ध्वनि स्पष्ट हो जाती है। राजा वास्तव में धर्मनिरपेक्ष नहीं है। जब तक जनता अपने अधिकारों की बात नहीं कहती तब तक उसे खाने से मतलब रहता है, पकाने वालों से नहीं। परंतु जब श्रमजीवी वर्ग के प्रतिनिधि रसोइए, श्रम का उचित मेहनताना और काम की जगह की बदतर स्थिति की शिकायत करने लगते हैं तब वह उनके अधिकारों की आवाज़ को कुचलने के लिए चतुराई से धर्म की फूट पैदा करता है।

''राजा : हाँ, यही तो हम कह रहे हैं जीवन में सबसे बड़ी और सबसे प्यारी चीज़ है आदमी का धर्म। धर्म के लिए आदमी जान दे सकता है, दूसरे की जान ले सकता है। हमने अपने क़ानून बनाने वालों से कह दिया है कि धर्म के लिए जो जान दी जाए उसे आत्महत्या न माना जाए और धर्म के लिए जो जान ली जाए उसे हत्या न माना जाए। तालियाँ (दोनों अंगरक्षक तालियाँ बजाते हैं) हम सोचते हैं कि सांप्रदायिक दंगों को राष्ट्रीय पर्व घोषित कर दें और उन दंगों में जो लोग सबसे ज़्यादा जानें लेकर दिखाएँ उन्हें धर्मवीर चक्र प्रदान करें।''7

इस प्रकार राजा अपनी असफलताओं और कमज़ोरियों के चलते हो सकने वाले जन-विद्रोह से डरता है इसीलिए वह रसोइयों की समस्याओं का समाधान धर्म में खोजता है। यही नहीं वह यथास्थिति बनाए रखने के लिए सेठ-साहूकार, मंत्री-अफसर, कलाकार, गुण्डों सभी को खिलाता है। सत्ता पक्ष द्वारा यथास्थिति को बनाए रखने वाली नीति को बर्तोल्त ब्रेख़्त ने भी अपने गीत के माध्यम से व्यक्त किया है, जिसमें अफसर, पुलिस, प्रशासन, न्याय व्यवस्था सभी सत्ता के अधीन है :

''सभी अफसर उनके
जो सब कुछ करने को तैयार
सभी दफ्तर उनके
क़ानूनी किताबें उनकी
कोर्ट कचहरी भी उनके
जज और जेलर भी उनके
पुलिस और गुंडे भी उनके''8

लेखक ने राजा के माध्यम से सत्ता के चरित्र को बेनकाब किया है। सत्ता जनता की उचित माँगों को पूरा न कर पाने की स्थिति में धर्म का आश्रय लेती है। राजा रसोईघर में मंदिर, मस्जिद, चर्च और गुरुद्वारे बनाने की बात करता है। रसोईयों को धार्मिक-नैतिक शिक्षा के लिए दी जाने वाली इस सुविधा की कीमत भी राजा उनसे वसूलने का हिमायती है। विद्रोह और जन-क्रांति उसे ख़तरनाक लगते हैं जिन्हें वह धर्म के माध्यम से दबाना चाहता है। इतना ही नहीं सत्ता दुखी और पीड़ित जनता के समक्ष निरंतर यही प्रयास करती है कि उसकी स्वच्छ और निर्मल छवि बनी रही। यह प्रयास विनम्रता के साथ-साथ तानाशाही प्रवृत्ति के साथ भी किए जाते हैं। नाटक में राजा कहता है : ''आप लोगों को उपासना ज़रूर करनी चाहिए। इससे आत्मा शुद्ध रहती है। दिल में विद्रोह और क्रांति जैसे बुरे विचार नहीं आते। उपासना करने से ही आपके दिलों में ये बात आती है राजा भी ईश्वर का ही रूप होता है। ईश्वर की तरह राजा सबको देखता है और सबकी सुनता है राजा बड़ा न्यायी है और सच्चा इंसाफ करता है। ये दुनिया उसकी मर्ज़ी से चलती है और उसकी मर्ज़ी के बिना यहाँ पत्ता भी नहीं हिल सकता .....''9 सत्ताएँ धर्म और संस्कृति के माध्यम से जनाक्रोश से जन्मे जनांदोलनों को दबाती हैं। इसके लिए सबसे पहले जनता को ईश्वर, धर्म और संस्कृति के एकपक्षीय रूप को देखने और उसके लिए निष्ठावान रहने का पाठ पढ़ाया जाता है। धर्म और संस्कृति पर दूसरे धर्म व संस्कृति के ख़तरों को इस प्रकार प्रचारित किया जाता है कि आम जनता धर्म संस्कृति के तथाकथित ठेकेदारों की बातों पर पूर्ण विश्वास कर लेती है। अक्सर ऐसा जनता का ध्यान रोटी, कपड़ा, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार और आवास की मूल समस्याओं से हटाने के लिए किया जाता है। यही नहीं जब भी जनता इन मूल समस्याओं के लिए संघर्ष करने के लिए एकजुट होती है तो उसे धर्म और जाति के आधार पर बाँट दिया जाता है। वर्तमान समय में भी राजनीतिक दल इस प्रकार की चालें चल रहे हैं। कभी गौ रक्षा के नाम पर तो कभी धर्म रक्षा के नाम पर मनुष्यों की बलि दी जा रही है।

सत्ता द्वारा जनता की संगठित शक्ति को दबाया और उसके विरोध को कुचला भी जाता है। नाटक में राजा से असंतुष्ट होकर हड़ताल में शामिल चारों रसोइयों को क़ैद कर लिया जाता है। यह स्थिति आपातकाल के तानाशाही परिदृश्य की याद दिलाती है।

इस नाटक में पंडित जी, मुल्ला जी, सरदार जी और मिस्टर जॉन सेवक उस आम जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो विभिन्न धर्मों को मानते हुए भी सद्भाव से रहती है। यह जनता जीवन में सुख-शांति चाहती है। धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों का तीव्र विरोध करती है। यह जनता अपनी

बदहाल ज़िन्दगी का विश्लेषण तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करती है। उदाहरण के लिए मि.जॉन सेवक के बदले रूप मि.वैस्टर्न और पंडित जी का यह संवाद–

''मि. वैस्टर्न : (पाइप में तम्बाकू भरते हुए) लेकिन तुम हड़ताल काहे को करना माँगता? लाइफ का परेशानी देख के? पन ये परेशानी तो इंसान का इम्तहान होता।

पंडित जी : ये उपदेश रहने दो भाई। हमारे हिंदू धर्म में ऐसे बहुत-से उपदेश भरे पड़े हैं। लेकिन हमने तो अपनी ज़िन्दगी में देख लिया कि भगवान ग़रीबों की ही परीक्षा लेते हैं जिनके पास पैसा और ताक़त है, उनको बिना परीक्षा लिए ही पास कर देते हैं।''10

खुशहाल जीवन की इच्छा रखने वाली जनता ने सोचा था आजादी के बाद उसके सपने पूरे होंगे। उचित मेहनताना, श्रम का आदर, खाने को अच्छा खाना, सिर ढकने को अपनी छत जैसी बुनियादी ज़रूरतें पूरी होंगी। लेकिन सब सपने टूट गए। आर्थिक आधार पर तेज़ी से बढ़ी असमानता ने धनी को और धनी तथा निर्धन को और निर्धन कर दिया। जब सहा न गया तो जनता ने संगठित होकर अधिकार माँगे। परिणाम स्वरूप उसके विरोध को हर संभव तरीके से दबाया गया। उसे वास्तविक मुद्दे से भटकाकर और धर्म में उलझाकर।

नाटक में पंडित जी, मुल्ला जी, सरदार जी और मि. जॉन सेवक के एक-एक करके गिरफ़्तार होने पर उनके स्थान पर उन्हीं के जैसे दिखने वाले पर भिन्न व्यवहार के भाई नेकरदास, ग़ुलामअली, किरपानसिंह और मि. वैस्टर्न का आना भी प्रतीकात्मक स्थिति है। यह स्थिति बताती है कि पुरानी शक्ल में लौटने वाले वास्तव में बहुरूपिए हैं। इनके चेहरे वहीं है पर सोच, व्यवहार और दृष्टिकोण में जनता के उन प्रतिनिधियों से स्पष्ट और बहुत बड़ा अंतर है। एक तरह से औपनिवेशिक भारत का सच भारतीय प्रतिनिधियों के समय में भी जीवित है। उत्तर औपनिवेशिक भारत भी कमोबेश उसी ज़ुल्म के ढर्रे पर है। धर्म के नाम पर फूट। नाटककार ने नया दृष्टिकोण रखने वाले धर्मों के प्रतिनिधियों के चेहरे जनता के प्रतिनिधियों की तरह क्यों रखे? यह इसलिए कि दर्शक जान सकें कि धर्म तो वही पुराना है पर उसका रूप बदला ही नहीं है विकृत भी हो गया है। सत्ता द्वारा भाई-भतीजावाद के आधार पर नियुक्त नए रसोइए सत्ता के उस चरित्र को दर्शाते हैं जो अपने द्वारा किए गए एहसान की कीमत जनता के विरोध करने की चेतना को कुंद करके चुकाती है।

सत्ता द्वारा पोषित यह नई व्यवस्था सत्ता की यथास्थिति बनाए रखने के सर्वथा योग्य है। नाटक में ग़ुलामअली और मि. वैस्टर्न का अल्पसंख्यकों का नेता होना, धर्मांतरण की बात करना, दंगों में सक्रिय होना, नेकरदास का हिंदू नेता और किरपान सिंह का खालसा पंथ का नेता होना, छुआ-छूत, जातिवाद को प्रमुखता देना इस बात की पुष्टि करता है। यह सांप्रदायिक तत्त्व आम जनता को अधिकारों की लड़ाई लड़ने से रोकते हैं :

''ग़ुलामअली : देखिए साहिबान, इन बेकार की बातों से कोई फायदा नहीं। बावर्चीखाने में सियासत की कोई बात नहीं होनी चाहिए। काम कीजिए, और ठीक तरह से कीजिए। राजा साहब को आप लोगों से बहुत शिकायतें हैं।''11

यह नाटक राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जो धर्म की राजनीति चल रही है, उसका भी हिस्सा बनता है।

नाटक में राजा और उसके द्वारा स्थापित नई व्यवस्था अमानवीय और जनवाद विरोधी है। यह व्यवस्था समाज में बढ़ती उन सांप्रदायिक शक्तियों की बात करती है जो आगे चलकर देश रूपी रसोई को सँभालेंगी।

यह शक्तियाँ निर्मिति नहीं ध्वंस जानती हैं, आम जीवन की शांति को नष्ट करती हैं, उद्योग-धंधे चौपट करवाकर जनता को भूखा मरने पर विवश करती हैं, कहीं मस्जिद गिरवाती हैं तो कहीं पीर-पैग़म्बरों की मज़ारों को अपमानित करके अपने धर्म की शक्ति का संकेत देती हैं। नाटक में जब यह नई व्यवस्था राजा को भोजन देने में असमर्थ सिद्ध होती है तो राजा द्वारा इसका अंत नहीं किया जाता बल्कि भारतमाई के रूप में सच्चे लोकतंत्र की पक्षधर जनता का अपमान किया जाता है। उस पर ज़ुल्म ढाया जाता है।

भारतमाई उस जनता का प्रतीक है जो विपन्न है, भूखी है, बदहाल है और सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा अपमानित है। ये वास्तव में सत्ता की विफलता और उसके जनविरोधी होने का प्रतीक है। भारतमाई नाटक में आशावाद का भी प्रतीक है जो श्रमजीवी वर्ग को हिम्मत देती है:

''भारतमाई : मिलजुल के अपने राजा से कहो। न जाने तो अपने हक़ की लड़ाई लड़ो। (सरदार जी से) और बेटा, तेरे मुँह से तो ये थकी-हारी बातें मुझे बिलकुल अच्छी नहीं लगतीं। तू तो पंजाब का है, जहाँ का मेरा बेटा भगतसिंह हँसते- हँसते आजादी की लड़ाई में फाँसी पर चढ़ गया।''12

यह नाटक भी आशावाद पर ही समाप्त

होता है। इन पंक्तियों के साथ-''लेकिन याद रक्खो, वो दिन दूर नहीं जब जेलों की दीवारें टूटेंगी और मेरे प्यारे बेटे वापस आएँगे।''13

भारतमाई को आशा है कि उसकी खुशहाली और बेहतरी के लिए कुरबानी देने वाले बेटे एक दिन वापस आएँगे। नाटक जिस आशावादी बिंदु पर समाप्त होता है वह परिस्थितियों से नहीं जन्मा तो है ही बल्कि मनुष्य की सहज मानवीय प्रकृति का भी हिस्सा है।

परिस्थितियाँ अभी प्रतिकूल हैं पर आशा है कि कभी तो परिस्थितियाँ सुखदाई होंगी। कुछ लोग इसे झूठी आशावादिता भी कह सकते हैं परंतु साहित्य, नुक्कड़ नाटक भी जिसका अंग है 'जो है और जो हो सकता है' की संभावना में विश्वास रखता है। दुखी जनता को वास्तविकता बताकर एक नई परिस्थिति के लिए तैयार करने में यह आशावाद आवश्यक है। वैसे भी नुक्कड़ नाटक आंदोलन के आरंभिक चरण में यह आशावाद विकल्प का एक प्रमुख हथियार था।

अपनी प्रस्तुति में यह नाटक अपने चुस्त संवादों और प्रतीकात्मक ढाँचे के कारण बेहद सशक्त है। सूत्रधार का कथा की कड़ियों को जोड़ते आना, नाटक में गीतों का कथा को आगे बढ़ाने में मददगार होना तो महत्त्वपूर्ण है ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है इसके दृश्य। नाटक के सभी दृश्य कथा के प्रति जिज्ञासा बनाए रखते हुए नाटक के अनेक बिंबों को साकार करने में सफल हैं। कहीं रस्साकशी दिखाकर, कहीं चार धर्मों के रसोइयों को चार विपरीत दिशाओं में सक्रिय दिखाकर, कहीं झगड़ा-तनातनी के दृश्य दर्शकों को पूरी तरह बाँधे रखने में सफल हैं। फ्रीज़ और गति की संगत इन दृश्यों को अर्थवान बनाती है। पर सबसे मज़बूत पक्ष इसकी प्रतीकात्मक पात्र योजना और प्रतीकधर्मी स्थितियाँ ही हैं। इस पूरे नाटक में इसकी गीत योजना बहुत सार्थक और सशक्त रूप में आती है। गीत यहाँ स्थितियों के प्रति दर्शक की जिज्ञासा को बढ़ाते हैं और नुक्कड़ नाटक की कलात्मक शक्ति के रूप में घटित हो चुकी और घटने वाले घटनाओं के सूत्र दर्शकों को देते चलते हैं। वैसे भी रमेश उपाध्याय के सभी नाटक चाहे वह मंच हों या नुक्कड़ उनमें गीत का हिस्सा प्रमुख रहा है।

इस प्रकार 'राजा की रसोई' नाटक जनवादी अधिकारों के दमन की लड़ाई लड़ने वाला नाटक है। नाटक में यह लड़ाई अनेक मोर्चे खोलती है। यह लड़ाई एक श्रमिक के नज़रिए से लड़ी जाने वाली लड़ाई है। यह लड़ाई धार्मिक ताक़तों की अमानवीयता के विरोध की लड़ाई है। यह लड़ाई जहाँ मनुष्य के रूप में संघर्ष की लौ को जलाए रखने की लड़ाई है वहाँ यह लड़ाई जनतंत्र में जन की पक्षधर लड़ाई भी है। रसोई, रसोइए और राजा के माध्यम से देश, श्रमजीवी वर्ग और सत्ता का रूपक रखने वाला यह नाटक आज़ादी के बाद देश के परिदृश्य को कई आयामों में सामने रखता है।

सांप्रदायिकता का विरोधी यह नाटक 1982 में प्रकाशित हुआ लेकिन सन् 2002 के गुजरात के व्यापक नरसंहार की स्थिति से लेकर 2014 में सहारनपुर के दंगों के मद्देनज़र भी प्रासंगिक है।

संदर्भ

1 उत्तरगाथा (सांप्रदायिकता विरोधी अंक), जनवरी-अप्रैल 82 : सव्यसाची (संपा.), पृ.63

2 वही, पृ. 73

3 वही, पृ. 81

4 वही

5 वही, पृ. 88

6 वही, पृ. 64

7 वही, पृ. 69-70

8 यथाउद्धृत चौक-चौक पर गली-गली में, भाग-2, जन नाट्य मंच, दिल्ली (संपा.) पृ. 50

9 उत्तरगाथा (सांप्रदायिकता विरोधी अंक), जनवरी-अप्रैल 82 : सव्यसाची (संपा.), पृ.70

10 वही, पृ. 75,

11 वही, पृ. 77,

12 वही, पृ. 66,

13 वही,पृ. 68

❐❐❐

संपर्क : ई-112, आस्था कुंज अपार्टमेंट्स
सेक्टर -18, रोहिणी, दिल्ली-89
मोबाइल : 9811585399
ईमेल : pragya3k@gmail.com

फार्म IV

समाचार पत्रों के अधिनियम 1956 की धारा 19-डी के अंतर्गत स्वामित्व व अन्य विवरण (देखें नियम 8)।

पत्रिका का नाम : शिवना साहित्यिकी

1. प्रकाशन का स्थान : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

2. प्रकाशन की अवधि : त्रैमासिक

3. मुद्रक का नाम : ज़ुबैर शेख़।

पता : शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स, ज़ोन 1, एमपी नगर, भोपाल, मप्र 462011

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. प्रकाशक का नाम : पंकज कुमार पुरोहित।

पता : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

5. संपादक का नाम : पंकज सुबीर।

पता : रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. **उन व्यक्तियों के नाम / पते जो समाचार पत्र / पत्रिका के स्वामित्व में हैं। स्वामी का नाम :** पंकज कुमार पुरोहित। **पता :** रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

मैं, पंकज कुमार पुरोहित, घोषणा करता हूँ कि यहाँ दिए गए तथ्य मेरी संपूर्ण जानकारी और विश्वास के मुताबिक सत्य हैं।

दिनांक 20 मार्च 2018

हस्ताक्षर पंकज कुमार पुरोहित
(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

शिवना प्रकाशन - नई पुस्तकें

शोध दृष्टि - सुधा ओम ढींगरा का साहित्य
(शोध-आलेख संग्रह)
बलबीर सिंह, प्रकाश चंद बैरवा

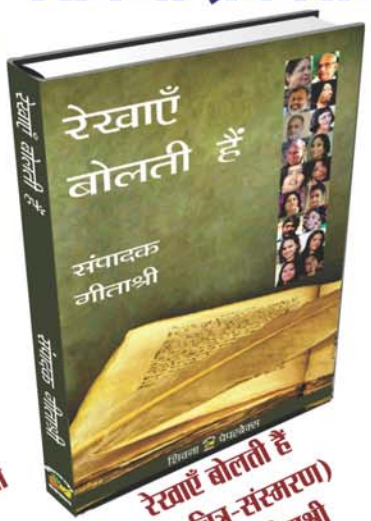

रेखाएँ बोलती हैं
(रेखाचित्र-संस्मरण)
संपादक गीताश्री

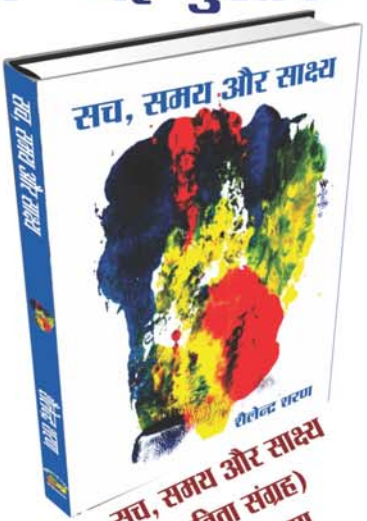

सच, समय और साक्ष्य
(कविता संग्रह)
शैलेन्द्र शरण

ख़ामोश आवाज़ें
(उर्दू कहानी संग्रह)
सैयद असद मेहदी

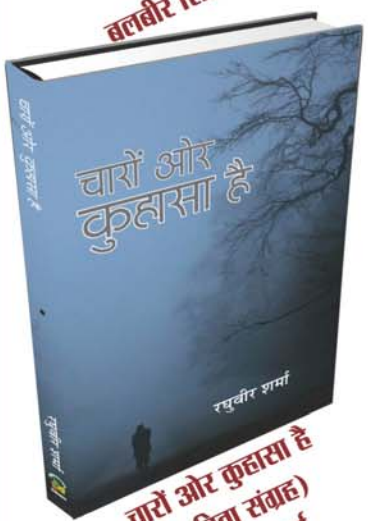

चारों ओर कुहासा है
(कविता संग्रह)
रघुवीर शर्मा

संकल्प और सपने
(लघुकथा संग्रह)
सदाशिव कौतुक

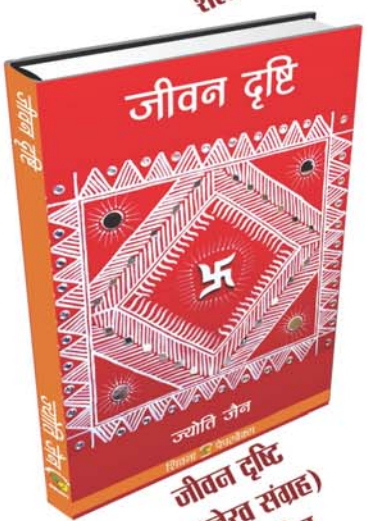

जीवन दृष्टि
(आलेख संग्रह)
ज्योति जैन

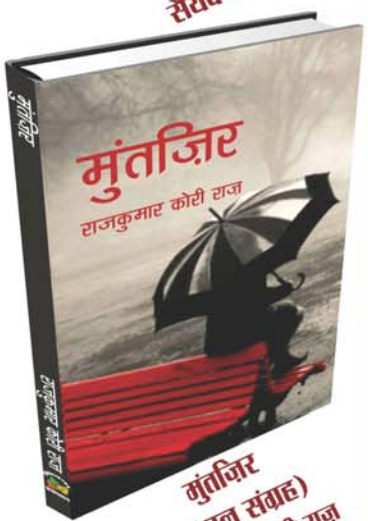

मुंतज़िर
(ग़ज़ल संग्रह)
राजकुमार कोरी राज

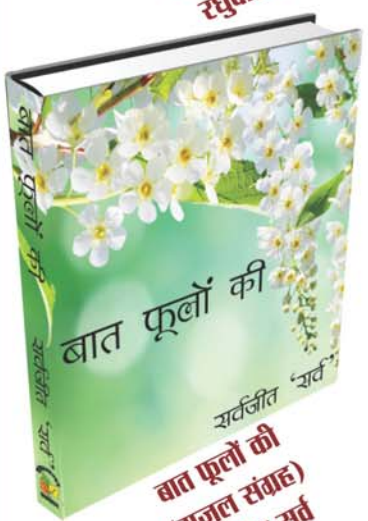

बात फूलों की
(ग़ज़ल संग्रह)
सर्वजीत सर्व

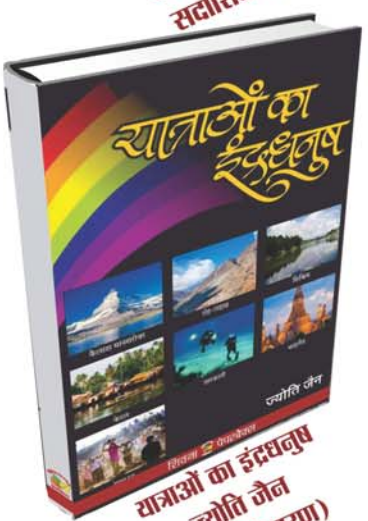

यात्राओं का इंद्रधनुष
ज्योति जैन
(यात्रा संस्मरण)

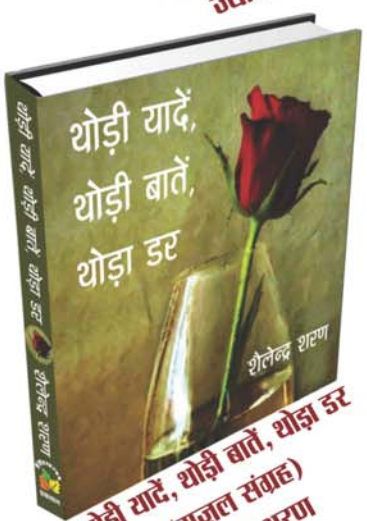

थोड़ी यादें, थोड़ी बातें, थोड़ा डर
(ग़ज़ल संग्रह)
शैलेन्द्र शरण

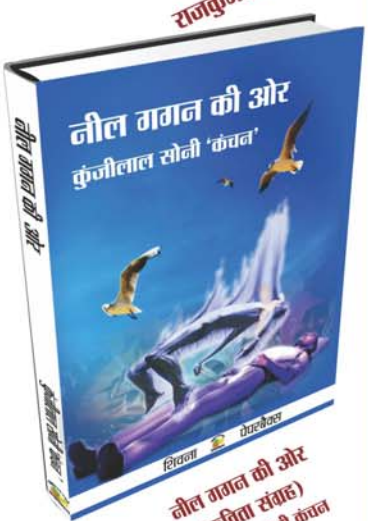

नील गगन की ओर
(कविता संग्रह)
कुंजीलाल सोनी कंचन

शिवना प्रकाशन

शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट
कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने
सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन
की पुस्तकें सभी प्रमुख
ऑनलाइन शॉपिंग
स्टोर्स पर

amazon
http://www.amazon.in
flipkart.com
http://www.flipkart.com
paytm ebay
https://www.paytm.com
http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

Shivna Sahityiki • Quarterly • January-March 2019 • RNI : MPHIN/2016/67929 • ISSN : 2455-9717

ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउण्डेशन अमेरिका द्वारा मध्यप्रदेश के सीहोर ज़िले में सीहोर तथा आष्टा में चलाए जा रहे आर्थिक रुप से कमज़ोर परिवार की बालिकाओं के लिए निशुल्क कम्प्यूटर प्रशिक्षण योजना के तहत स्थापित प्रशिक्षण केन्द्रों पर आयोजित कुछ कार्यक्रम

सीहोर में चलाए जा रहे 310 बच्चियों हेतु निशुल्क कम्प्यूटर प्रशिक्षण कार्यक्रम सत्र 2018-19 का शुभारंभ करते कलेक्टर श्री तरुण कुमार पिथोड़े, अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक श्री समीर यादव। इस अवसर पर श्री तरुण पिथोड़े ने अपनी ओर से एक कम्प्यूटर भी प्रशिक्षण केन्द्र को प्रदान किया।

सीहोर में चलाए जा रहे निशुल्क कम्प्यूटर प्रशिक्षण कार्यक्रम में प्रशिक्षण प्राप्त कर रही बच्चियों को स्थानीय टीवीएस शोरुम द्वारा दीपावली के शुभ अवसर पर शोरुम के संचालक श्री राजेश चांडक तथा समाजसेवी श्री अनिल पालीवाल ने एक-एक हज़ार रुपये के गिफ़्ट वाउचर प्रदान किए गए।

मध्यप्रदेश के सीहोर ज़िले के आष्टा में ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउण्डेशन द्वारा चलाए जा रहे 90 बच्चियों हेतु निशुल्क कम्प्यूटर प्रशिक्षण कार्यक्रम सत्र 2018-19 का शुभारंभ करते फ़ाउण्डेशन संयोजक श्री पंकज सुबीर, श्री धर्मेंद्र कौशल, श्री अब्दुल कादिर तथा केन्द्र संचालक श्री सुरेंद्र सिंह ठाकुर।

सीहोर में चलाए जा रहे निशुल्क कम्प्यूटर प्रशिक्षण कार्यक्रम में प्रशिक्षण प्राप्त कर रही बच्चियों को मध्यप्रदेश विधानसभा चुनाव 2018 में मतदान हेतु प्रेरित तथा जागरुक करते सीहोर के अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक श्री समीर यादव तथा अनुविभागीय पुलिस अधिकारी सुश्री प्रतिमा सिंह चौहान।

If Undelivered Please Return to :
P. C. Lab, Shop No. 3-4-5-6, Samrat Complex Basement, Opp. Bus Stand, Sehore, M.P. 466001
Phone 07562-405545, 07562-695918, Mobile 09584425995, 07828313926, 09806162184

स्वत्वधिकारी एवं प्रकाशक पंकज कुमार पुरोहित के लिए पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मध्य प्रदेश 466001 से प्रकाशित तथा मुद्रक ज़ुबैर शेख़ द्वारा शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स,ज़ोन 1, एम पी नगर, भोपाल, मध्य प्रदेश 462011 से मुद्रित।